
इकाई 1 हिन्दू मन एवं हिन्दू जीवन : विश्वदृष्टि

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 हिन्दू विश्वदृष्टि
- 1.3 परमसत्ता या मूलतत्त्व का ज्ञान : सत्, चित्, आनन्द (सच्चिदानन्द)
- 1.4 मन और बुद्धि का स्वरूप
- 1.5 मन के गुण और धर्म
- 1.6 बुद्धि के गुण और धर्म
- 1.7 मन और बुद्धि का विश्वदृष्टि से सम्बन्ध
- 1.8 पुण्य, पाप और प्रायश्चित्त
- 1.9 सारांश
- 1.6 शब्दावली
- 1.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 1.9 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य

हिन्दू अध्ययन प्रथम पाठ्यक्रम के द्वितीय खण्ड की इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- हिन्दू विश्वदृष्टि एवं सच्चिदानन्द स्वरूप की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- हिन्दू विश्वदृष्टि के अनुसार मानव जीवन के लक्ष्य के विषय को समझा सकेंगे।
- हिन्दू जीवनशैली एवं संस्कारों की अवधारणा का विवरण दे सकेंगे।
- मन एवं बुद्धि की सङ्कल्पना और विश्वदृष्टि से उनके सम्बन्ध को समझा सकेंगे।
- आदर्श हिन्दू जीवनचर्या के विषय को समझा सकेंगे।
- मानव जीवन, समाज एवं विश्व पर हिन्दू विश्वदृष्टि के प्रभाव का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आप हिन्दू संकल्पना की प्राचीन तथा अभिनव संकल्पना से परिचित हो चुके हैं। अब आप इस व्यापक संकल्पना एवं स्वरूप वाले अवधारणा को कुछ बुनियादी बातों के आधार पर समझने जा रहे हैं। इस समझ को विकसित करने हेतु इस एक शब्द के रूप में इस देश से जुड़े मानवीय सम्पदा के सामूहिक एवंव्यक्तिगत मानसिक अभिरुचि एवं अभिवृत्ति को जानना आवश्यक है।

एक राष्ट्र की अवधारणा और उसके सुगठित स्वरूप का परिचय वैदिक साहित्यों,पुराणों, धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों में जगह-जगह प्राप्त होते हैं। वेद में एक न

केवल 'राष्ट्र' शब्द बार-बार आया है बल्कि राष्ट्र के स्वरूप का विवेचन भी प्राप्त होता है। चूंकि मनुष्य उन्हीं सभी कार्यों को दृढतापूर्वक सम्पादित करता है जिसकी संकल्पना उनका मन करता है। मन एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व है जिसका निश्चित भौगोलिक दिशाओं से एक अटूत सम्बन्ध है।

इस इकाई में आप पूर्व के खण्ड में पढ़ चुके अवधारणाओं के तात्त्विक धरातल के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप एक राष्ट्र के रूप में हिन्दुस्तान की संकल्पना तथा इस देश के नागरिकों के मध्य पाये जाने वाली रुचियों की उपलब्धता की आधारभूत तथ्यों से परिचित हो सकेंगे, साथ ही आप यह भी बता सकेंगे कि किस प्रकार से भारत में राष्ट्रप्रेम पश्चिमी या अन्य संस्कृतियों के राष्ट्र प्रेम से विशिष्ट एवं व्यापक है।

1.2 हिन्दू विश्व दृष्टि

प्रश्न : हिन्दू विश्व दृष्टि का सामान्य स्वरूप क्या है?

उत्तर : हिन्दू विश्व दृष्टि यह है कि यह सम्पूर्ण विश्व सच्चिदानन्दमय है। सच्चिदानन्द का अर्थ है— सत्, चित् एवं आनन्दमय ब्रह्म। सत् अर्थात् अस्तित्व। जो है, वही सत् है। जो नहीं है, वह असत् है। परन्तु मन और बुद्धि की मलिनता से या निर्बलता से कई बार असत् भी सत् प्रतीत होता है। इसे ही आभास कहते हैं। जैसे मरुस्थल में दूर से जल का आभास। सत्ता मात्र या अस्तित्वमात्र सत् है। उसके बारे में विचार करना, सुनना, मन्त्र करना और बोध को दृढ करना यह चित्-मूलक क्रियायें हैं। चित् का अर्थ है चिन्मयता। आनन्द तो स्पष्ट रूप से आनन्द ही है। ज्ञानलाभ से ही आनन्द होता है। अतः अस्तित्व को जानना, उसके वास्तविक स्वरूप को जानना और अवास्तविक आभास को भी आभास रूप में यानी यह आभास है, यह जानना तथा इस ज्ञानात्मक क्रिया से आनन्द प्राप्त करना यह प्रत्येक व्यक्ति के मन और बुद्धि का प्रयोजन है। परन्तु मन और बुद्धि के ये व्यापार अन्नत हैं। इसलिये आनन्द के भी अन्नत रूप हैं।

प्रश्न : सत्ता का स्वरूप क्या है?

उत्तर : सर्वव्यापी सत्ता का नाम है ब्रह्म। ब्रह्म की सर्वत्र सत्ता है। उसे विराट पुरुष भी कहा गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इसे अर्थात् विराट पुरुष को सत् और असत् जैसे भेदों से परे कहा गया है। उसका कोई एक रूप चित्रित या व्यक्त नहीं हो सकता। इसे ही यजुर्वेद में इस प्रकार कहा गया है — 'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद् यशः'। अर्थात् उस विराट पुरुष का यश महत् है, विराट है। अतः उसकी कोई एक प्रतिमा नहीं बनाई जा सकती। अन्नत प्रतिमायें, अन्नत मूर्तियाँ उस विराट पुरुष की ही अलग-अलग छवियाँ हैं। मूर्ति का अर्थ होता है अभिव्यक्ति। अतः उस अर्थ में प्रत्येक जीव और प्रत्येक मनुष्य भी एक मूर्ति है। जो मूर्त रूप है, वह मूर्ति है। अतः सभी मूर्तियाँ उस एक विराट पुरुष की ही आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। परन्तु किसी भी मूर्ति के द्वारा वह सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं होता।

इसीलिये कहा है कि एक ही मूल तत्त्व को विद्वान अलग-अलग गुणों और क्रियाओं के अभीष्ट संकेत के लिये अलग-अलग नामों से पुकारते हैं या कहते हैं। जैसे — अग्नि, यम, मातरिश्वा, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अज् और प्रजापति आदि। वही मूलतत्त्व सर्वत्र प्रकाशित है। समस्त सृष्टि उनसे ही ओतप्रोत है। समस्त मनुष्य और समस्त जीव तथा समस्त महाभूत उनसे ही उत्पन्न हैं। उनके असंख्य शीर्ष हैं,

असंख्य आँखें हैं और असंख्य पैर हैं। वर्तमान भूत और भविष्य जगत सभी कुछ वही है। वे जगत के नियामक धर्म हैं और मुक्ति के भी स्वामी वही हैं। यही हिन्दू विश्वदृष्टि है।

1.3 परमसत्ता या मूलतत्त्व का ज्ञान : सत, चित, आनन्द (सच्चिदानन्द)

प्रश्न : उस मूल तत्त्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

उत्तर : उस मूल तत्त्व को मनुष्य अपने भीतर की चिदग्नि को जाग्रत कर जान सकता है। अपने भीतर स्थित इस अमृत तत्त्व को जानकर मनुष्य ज्ञानवान होता है। अतः उसे ही चिदग्नि कहते हैं और उसके ज्ञान की प्रक्रिया को चिदग्निविद्या या अग्निविद्या कहते हैं। इस अग्नि को जानने की साधना ही यज्ञ है। इस ज्ञानसाधना का मार्गदर्शन गुरु करते हैं।

उपनिषदों में इसका विस्तार से वर्णन है। मुण्डक उपनिषद् में प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड का 9वां मन्त्र है :-

“यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।”

अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं, सर्वविद्याओं के स्वामी हैं, यह ज्ञानमय तप जिनका है, उनसे ही नाम-रूपात्मक जगत और समस्त अन्न आदि समस्त जगत है, यह ब्रह्म ही है।

फिर उसी उपनिषद् में द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड का दूसरा मन्त्र है -

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

अर्थात् जो दिव्य पुरुष परमात्मा हैं वे अमूर्त हैं और बाहरी और भीतरी समस्त जगत में व्याप्त हैं। जगत के भीतर भी हैं और जगत के बाहर भी। वे जीवन के लिये प्राण पर निर्भर नहीं हैं। और भावनाओं या क्रियाओं के लिये मन पर निर्भर नहीं हैं। वे अविनाशी परमात्मा सर्वथा शुद्ध हैं और अत्यंत श्रेष्ठ हैं।

पुनः इसी खण्ड में दसवाँ मन्त्र है -

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।

एतद्यो वेद निहितं गुहायाँ सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥

अर्थात् ब्रह्मर्षि अंगिरा एक महान गुरुकुल जो, आधुनिक विश्वविद्यालय के समान थे, अधिष्ठाता और 88 हजार ब्रह्मचारी ऋषियों को ज्ञान देने वाले महर्षि शौनक से कहते हैं कि हे सौम्य शौनक तप, कर्म और सम्पूर्ण विश्व, सबकुछ ब्रह्म ही है। वे हृदयरूपी गुफा में छिपे हुये अन्तर्यामी हैं। उन्हें जानने वाला मनुष्य जीवन में ही अविद्या की ग्रन्थि को खोल डालता है।

इसी प्रक्रिया को द्वितीय खण्ड के चौथे श्लोक में स्पष्ट किया गया है -

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्ध्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

अर्थात् ओंकार को धनुष और आत्मा को बाण समझो। इस धनुषबाण से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को वेधना है यानी उसकी प्राप्ति कर उससे एकाकार हो जाना है। प्रमाद रहित होकर यह बाण चलाना पड़ता है। तब जीव परमात्मा से एकाकार हो जाता है।

इसी खण्ड के ग्यारहवें श्लोक में कहा है –

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥**

अर्थात् जो सामने है, जो पीछे है, जो दायीं ओर है, जो बायीं ओर है, जो ऊपर है और जो नीचे है, यह सब ओर फैला हुआ विश्व वस्तुतः ब्रह्म ही है।

प्रश्न : क्या सत् ही चित् है?

उत्तर : हाँ, जो सत् है, जो आत्मसत्ता है और जो परमसत्ता है, वह विशुद्ध चित् है। चिन्मय है। आत्मसत्ता परमसत्ता का ही अंश है जो प्रत्येक प्राणी की हृदयगुफा में ज्योति की तरह निरन्तर प्रकाश फैलाती रहती है। वह परम आनन्दमय है। सत्, चित् और आनन्द उसी परम सत्ता की संज्ञा है।

प्रश्न : तो क्या आत्मदर्शन ही एकमात्र आनन्द है? और कुछ आनन्द नहीं है?

उत्तर : पहली बात, आत्मदर्शन का अर्थ ही है समस्त दृश्य जगत का जो द्रष्टा है, उसे जान लेना। यह बुद्धि का उच्चतम स्तर है। परन्तु उसके पहले के स्तरों में आनन्द के भी विविध स्तर हैं। ज्ञान के सभी स्तरों में आनन्द है। ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म ही सत्कर्म या सुकृत है। सुकृत आनन्ददायक है। आनन्दमय नहीं। दोनों का अन्तर जानना चाहिए

आत्मज्ञान का अर्थ है सत्, चित्, आनन्दमय आत्मा को जानना। वह आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। क्योंकि आत्मा आनन्दमय है। स्वयं ही आनन्दमय है। जबकि ज्ञानपूर्वक किए गए पुरुषार्थ आनन्ददायक होते हैं। उनसे आनन्द मिलता है। जो मिलता है, उसकी सीमा है। एक समय-सीमा के बाद वह अपना प्रभाव मात्र छोड़ जाता है। बस।

जैसे, आपने जान लिया कि पृथ्वी का स्वरूप क्या है या राष्ट्र का स्वरूप क्या है या समाज का स्वरूप क्या है? या शासन का स्वरूप क्या है? यह जानना आनन्द देगा। परन्तु इसकी समय-सीमा है। वह सदा नहीं रहेगा। उसके बाद फिर, अपने लक्ष्य के अनुरूप कार्य का संकल्प आप करेंगे। यह क्रम चलता रहेगा।

आत्म-स्वरूप को जानना अर्थात् अपने मूल रूप की, आत्मा की आनन्दमय स्थिति एवं स्वरूप को जानना, वह ज्ञान आनन्ददायक नहीं है। वह स्वयं आनन्द से एकाकार हो जाना है। वह अस्तित्व की सर्वोच्च स्थिति है। यह अत्यंत दुर्लभ दशा है।

शेष समय व्यक्ति आत्मसत्ता का अनुभव करते हुए विविध पुरुषार्थ करता है। ज्ञानपूर्वक किए गए सभी पुरुषार्थ आनन्ददायी होते हैं। वे आनन्द की अनुभूति देते हैं। मन को, बुद्धि को, आत्मसत्ता को। इसे ही रस कहते हैं। रस से अनुभव होता है कि आनन्दमय सत्ता ही इसका स्रोत है। परम आनन्दमय परमात्मा ही जगत रूप में व्यक्त है। इसीलिए यह जगत सुकृत है। जगत के नियमों के ज्ञान के साथ किए जाने वाले सब कार्य भी सुकृत कहे जाते हैं।

रस चिन्मय है। चेतनामय है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के 7वें अनुवाक में कहा गया है –

‘यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्योवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्योवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्योवानन्दयाति।’

अर्थात् जो सुकृत है, सत्कर्म और श्रेष्ठ पुरुषार्थ हैं, वही रस है। उस रस को प्राप्त कर जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है। क्योंकि परमात्मा आनन्दमय है और उनके इस विश्व रूप में जो कुछ भी सृष्टि चक्र के सनातन नियम हैं, उनका पालन करते हुये पुरुषार्थ करना ही आनन्द का वास्तविक मार्ग है।

परमात्मा के सिवाय आनन्द का स्रोत और कोई नहीं। परमात्मा के ही कारण यह चिदाकाश है और प्राण हैं। प्राणों की क्रिया उनसे ही सम्भव है। उस परमात्मा को पाने से (जानने से) निर्भय पद प्राप्त हो जाता है (अथ सोऽभयं गतो भवति)।

प्रश्न : क्या गुरु के उपदेश से ही मूलतत्त्व का ज्ञान हो जाता है?

उत्तर : नहीं। गुरु वाणी से जो उपदेश देते हैं, उसे आपका मन और बुद्धि ग्रहण करते हैं। इस मन और बुद्धि के ग्रहण की प्रक्रिया का विस्तार हमारे शास्त्रों में है। विशेषकर योगशास्त्र मन और बुद्धि के विषय में ही ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान के अनुरूप मन को शुद्ध और बुद्धि को निर्मल बनाना होता है। परन्तु इसके साथ ही सांसारिक जीवन में अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी भी एक प्रक्रिया है और उसमें भी उचित और अनुचित, सद और असद, सही और गलत का विवेक आवश्यक होता है। यह विवेक भी शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त होता है। यद्यपि सर्वोच्च ज्ञान तो आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही है।

प्रश्न : तो क्या आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की साधना ही मानवजीवन का लक्ष्य है?

उत्तर : नहीं, वह जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। परन्तु जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण लक्ष्य भी हैं। जीवन के इन लक्ष्यों को चार पुरुषार्थों के रूप में हिन्दू शास्त्रों ने विभाजित किया है। वे हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों की जीवन में साधना की जाती है। कुछ ऐसे उन्नत चित्त व्यक्ति होते हैं जो बोध का स्तर प्राप्त करते ही सर्वोच्च लक्ष्य की साधना की ओर अग्रसर होते हैं। पर ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं। भगवान बुद्ध ने भी कहा है – ‘अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः’। अर्थात् भवचक्र से पार जाने की योग्यता वाले व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। शेष लोग अपने संस्कारों के अनुरूप पुरुषार्थ करते हैं।

इस परमसत्ता या ब्रह्म के ज्ञान की साधना विशेष तप और विशेष स्वाध्याय मांगती है। परन्तु शेष समय सामान्यतः लोग अपने संस्कारों के अनुरूप ही बरतते रहते हैं। धर्म, धर्ममय अर्थ और धर्ममय काम – ये त्रिवर्गीय पुरुषार्थ उनके कार्यक्षेत्र हैं। उन पुरुषार्थों से भी आनन्द प्राप्त होता है। वे सब आनन्द-रूप भी परमानन्द परब्रह्म की ही आंशिक झलक हैं। विशिष्ट लोग परमानन्द परब्रह्म और आत्म-स्वरूप को जानने का पुरुषार्थ करते हैं। उसे ही परम पुरुषार्थ कहा जाता है। तब शेष सब पुरुषार्थों का मोह छूट जाता है। इस प्रकार संस्कार-भेद से जीवन के लक्ष्यों में भिन्नता होती है।

प्रश्न : संस्कारों का निर्माण किस प्रकार होता है?

उत्तर : चित्त में यानी बुद्धि और मन में किसी भी विषय के ज्ञान का जो प्रभाव पड़ता

है, उसे संस्कार कहते हैं और साथ ही जो इच्छा और आकांक्षा तथा संकल्प जन्म लेते हैं, उनका प्रभाव भीमन और बुद्धि पर पड़ता है, उसे भी संस्कार कहते हैं। साथ ही व्यक्ति जो भी क्रियायें करता है उन क्रियाओं से सम्बंधित कार्यव्यापार सम्बन्धी जानकारियों और मनोभावों की भी एक छाप पड़ती है उसे भी संस्कार कहते हैं।

प्रत्येक भाव प्रत्यय एवं विचार प्रत्यय संस्कार के रूप में चित्त में रह जाते हैं। संस्कारों की बहुत शक्ति होती है। चित्त का कोई ज्ञान या कोई भी क्रिया होने से उस पर जो प्रभाव या छाप पड़ती है या धृतभाव यानी इम्प्रेशन रह जाता है, उसे ही संस्कार कहा जाता है। संस्कार ज्ञानमूलक और क्रियामूलक दोनों प्रकार के होते हैं। स्मृति से ज्ञानसंस्कार बनते हैं और क्रियाओं से क्रियासंस्कार बनते हैं। संस्कार ही कर्म का प्रेरक बनता है।

प्रत्येक जीव या प्रत्येक व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर में जो क्रियायें करता है अथवा जो ज्ञान – साधना करता है या जो अभीप्सायें और आकांक्षायें करता है, तीव्र या प्रबल होने पर वे संस्कार के रूप में सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ी रहती हैं। अतः वर्तमान जन्म में वे संस्कार ही अलग-अलग आकांक्षाओं, लालसाओं और संकल्प को जन्म देते हैं। इनकी पूर्ति के प्रयास को ही भोग कहते हैं। संस्कारों का भोग करना ही होता है। योगी उन्हें योगसाधना से नष्ट कर देते हैं अर्थात् दग्धबीज कर देते हैं। तब वे संस्कार नहीं बचे रहते। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान जन्म और विगत जन्म के संस्कार होते हैं। जो उसमें कतिपय कार्य करने और कतिपय उद्देश्य सिद्धि की तीव्र आकांक्षा जगाते रहते हैं। अनुकूल परिवेश होते ही वे आकांक्षाएँ कर्म का कारक या कर्म की प्रेरक बनती हैं। इसीलिये संस्कारों का परिष्कार करना कर्तव्य है। अर्थात् संस्कारों को निखारना या ऊँचा उठाना आवश्यक है। यह कार्य मन की गति और स्वभाव को जानकर ही सम्भव है। जानना बुद्धि की क्रिया है। इसलिये बुद्धि के स्वरूप को भी जानने पर हिन्दू जीवन में बल दिया गया है। जब हम बुद्धि और मन के स्वरूप के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब मन स्ववश हो जाता है और बुद्धि कर्तव्य का सही मार्ग दिखाती है।

1.4 मन और बुद्धि का स्वरूप

प्रश्न : मन और बुद्धि के स्वरूप को कैसे जानें?

उत्तर : सर्वप्रथम तो इनके स्वरूप को शास्त्रों को पढ़कर ही जाना जाता है। परन्तु शास्त्रों को पढ़ने की योग्यता भी जन्मजात नहीं होती। शिक्षा के द्वारा वह योग्यता अर्जित की जाती है। फिर इनके स्वरूप को एकबार पढ़ लेने या सुन लेने पर भी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहता। अतः उस जाने हुये को स्थिर करने के लिये साधना की कतिपय प्रक्रियायें आवश्यक होती हैं।

प्रश्न : मन और बुद्धि का वह स्वरूप है क्या?

उत्तर : मन को 11वीं इन्द्रिय कहा गया है। उसे अन्तरिन्द्रिय भी कहा गया है। 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, ये 10 इन्द्रिया होती हैं। 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं – हाथ, पैर, वाणी, मलद्वार, मूत्रद्वार। 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं – आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्श की सम्बेदना में समर्थ त्वचा। मन इनके अतिरिक्त 11वीं इन्द्रिय है। संकल्प-विकल्प सब मन में ही होते हैं।

सांख्यदर्शन के द्वितीय अध्याय का 26वाँ सूत्र है –

‘उभयात्मकं मनः’ ।

अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ सम्बद्ध है। बाह्य इन्द्रियाँ या कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् वाणी, हाथ, पैर, जांघ, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (मूत्रद्वार) भी मन से सम्बद्ध हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ – नाक, कान, आँख, रसना और त्वचा भी उससे सम्बद्ध हैं। सभी इन्द्रियाँ अहम् भाव की ही उत्पत्ति हैं। इन्द्रियाँ सत्वगुण प्रधान हैं। इसीलिये वे अर्थ-प्रकाशक हैं। विषय के साथ इन्द्रियों का ही सम्बन्ध होता है। बाहरी विषयों के साथ आँख आदि का सम्बन्ध होने पर ही देखना, सुनना, सँघना, चखना तथा स्पर्श की प्रतीति होती है। परन्तु बुद्धि तक उन प्रतीतियों और अनुभवों को मन ही पहुँचाता है। इन्द्रियाँ करण हैं जिनके द्वारा विषयों का अर्थ बुद्धि तक मन के द्वारा पहुँचाता है। इन्द्रियों का यह समस्त कार्यव्यापार ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है।

इसी द्वितीय अध्याय का 32वाँ सूत्र है – ‘क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः’ ।

अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्रमशः होती है और कई बार कई स्थितियों में इतनी तीव्रता से होती है कि वे एक साथ हो रही दिखती हैं।

सामान्यतः सभी इन्द्रिय व्यापार क्रमशः ही होते हैं। जैसे कोई वस्तु सामने दिखती है तो आँखों से उसे देखने की क्रिया होती है। फिर मन उसके विषय में संकल्प-विकल्प करता है कि वह वस्तु सचमुच क्या है। अन्त में बुद्धि उसका निश्चय करती है कि यह अमुक वस्तु है। तो जो उस विषय में संकल्प-विकल्प है, वह मन का कार्य है और उस विषय में निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना बुद्धि का कार्य है। फिर बुद्धि ही उसके विषय में निर्णय लेती है। बुद्धि का यह निर्देश मन सम्बंधित इन्द्रिय तक पहुँचाता है और तब इन्द्रिय वह व्यापार करती है। जैसे आपने फूल को देखा। देखने का कार्य आँखों ने किया मन ने उस सम्वेदना को बुद्धि तक पहुँचाया बुद्धि ने पहचाना कि यह फूल है और इसे तोड़कर आज पूजा में ले जाना है। बुद्धि के इस निर्णय को मन ने इन्द्रिय तक पहुँचाया और हाथ उसे तोड़ने के लिये बढ़ गये। यह क्रम व्यापार है जो क्रमशः होता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जैसे जंगल में या अन्धेरे में आप जा रहे हैं जहाँ कुछ सूझ नहीं रहा। तभी बिजली चमकती है और सामने एक साँप दिखता है। आप तेजी से पीछे हटते हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार एक साथ काम करते दिखते हैं। अहंकार यहाँ इसलिये कहा कि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि सभी अहम् भाव के ही परिणाम हैं। देखना, पहचानना, दूर जाने का निर्णय लेना सब एक साथ होता है, ऐसा लगता है। क्योंकि वह बड़ी तीव्रता से एक-एक कर होता है। तीव्रता से होने के कारण उनके बीच का अन्तर बहुत कम होता है। इसलिये वह एकसाथ होता दिखता है।

बाहरी विषयों के बुद्धि तक पहुँचने में इन्द्रियों का अत्यधिक सहयोग है। इसीलिये इन्द्रियों को करण माना गया है। बुद्धि तक बाहरी विषय पहुँचाने का काम इन्द्रियाँ और मन ही करते हैं। ये इन्द्रियाँ कुल 11 कही गई हैं, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 बुद्धीन्द्रियाँ (या ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा 11वाँ मन जो आन्तर इन्द्रिय है।

सांख्यदर्शन, द्वितीय अध्याय का 40वाँ सूत्र है – ‘द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु’ ।

अर्थात् मन आन्तर और बाह्य दोनों का ही प्रधान करण है। दसों बाहरी इन्द्रियों की आन्तर इन्द्रिय मन है। इसलिये मन उस मुख्य राजपुरुष की तरह है जो राजारूपी

बुद्धि की इच्छानुसार इन्द्रियरूपी भृत्यों से सब काम कराता है। सभी दसों इन्द्रियाँ अपने नियत विषय का ही ग्रहण करती हैं, जैसे— आखें देखती हैं, वे सुन नहीं सकती। इसी प्रकार कान सुनते हैं, देख नहीं सकते। इसी प्रकार जीभ चखती है, देख और सुन नहीं सकती तथा नाक सँघती है, अन्य इन्द्रिय—कार्य नहीं कर सकती। मन इन समस्त विषयों का ग्रहण और संकल्प—विकल्प करता है और बुद्धि अन्तिम निश्चय करती है। इसीलिये मन को प्रधान और आन्तर इन्द्रिय कहा गया है। बुद्धि इन सबमें प्रधान है क्योंकि अन्त में बुद्धि ही उस विषय में निर्णय करती है।

वस्तुतः चित्त—रूप में परिणत जो सत्व गुण है, वही बुद्धि है। उसे ही विशुद्ध ज्ञानवृत्ति भी कहते हैं। योगसूत्र में समाधिपाद के दूसरे सूत्र — ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ के व्यासभाष्य में व्यास कहते हैं — ‘प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं।’ विवेकबुद्धि सत्वगुण प्रधान है। इसे ही बुद्धि का प्रकाश कहते हैं। विवेक ही बुद्धि का प्रकाश है। अविवेक बुद्धि का अन्धकार है।

योगसूत्र के विभूतिपाद का 35वाँ सूत्र का भाष्य करते हुये व्यास कहते हैं — ‘बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं’, अर्थात् बुद्धिसत्त्व प्रकाशक है यानी वह ज्ञानरूपी प्रकाश देने में समर्थ है। यही बुद्धिसत्त्व जब रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर आत्मा के सम्यक स्वरूप को देखता है, तब वह आत्मा के सदृश ही दिखायी पड़ने लगता है। जब बुद्धि उस स्तर को प्राप्त कर लेती है कि वह शुद्ध आत्मा का प्रतिबिम्ब बन जाती है, तब यह ज्ञान की उच्चतम दशा है।

न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय का 15वाँ सूत्र है — ‘बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।’

अर्थात् बुद्धि, ज्ञान और ज्ञानात्मक उपलब्धि ये तीनों एक ही हैं। ‘बोधनम् बुद्धि’ अर्थात् जानना ही बुद्धि है और इस रूप में यह पद ज्ञान का पर्यायवाची हो जाता है।

बुद्धि की एक अन्य व्याख्या है— ‘बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः’।

अर्थात् जिससे जाना जाये, वह बुद्धि है। इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का साधन है। बुद्धि के ये दोनों ही रूप होते हैं। विशुद्ध बुद्धि वस्तुतः विशुद्ध ज्ञान है और शेष समय बुद्धि ज्ञान का साधन है।

मनुष्य जो भी प्रवृत्ति करता है वह शरीर, वाणी और बुद्धि से की जाने वाली क्रियाओं का रूप ही है। न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय का 17वाँ सूत्र है — ‘प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः’।

इसीलिये कहा गया है कि बुद्धि वह भोग है जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि अर्थों और विषयों के अनुभव के रूप में आत्मा को होता है। इस अर्थ में समस्त भोग और समस्त अनुभव वस्तुतः बौद्धिक भोग एवं बौद्धिक अनुभव ही हैं। आत्मा का मूल स्वरूप उनसे अप्रभावित रहता है। क्योंकि आत्मा विशुद्ध है, चिन्मय है, चिति है, अपरिणामिनी और अपरिवर्तनशील है। समस्त भोग आत्मा के समक्ष उपस्थित बौद्धिक अनुभव हैं। आत्मा बुद्धि के द्वारा भोक्ता है परन्तु वस्तुतः वह शुद्ध चिन्मयसत्ता है। भगवद्गीता में कहा है कि आत्मा इस रूप में उपद्रष्टा, अनुमन्ता (यानी अनुमति देने वाला), भोक्ता तथा भर्ता है। परन्तु उसका मूल रूप शुद्ध चैतन्य है। बुद्धि के द्वारा वह भोगता है। परन्तु उस रूप में समस्त भोग दृश्य मात्र हैं। वे अविकारी दृष्टा पर कोई भी प्रभाव डालने में असमर्थ रहते हैं। दृष्टा दृश्य को जान लेता है। यही उसका भोग है। दृष्टा शुद्ध चिन्मय सत्ता है और सदा सभी भोगों से अलिप्त रहता है। परन्तु दृष्टा शुद्ध

चिन्मय सत्ता है, यह बोध जन्मजात नहीं होता। क्योंकि व्यक्ति विविध संस्कारों और चित्तमल या कषाय के साथ ही जन्म लेता है। अतः सुदीर्घ साधना के द्वारा ही वह मन और बुद्धि के स्वरूप को जानकर आत्मसत्ता की उनसे निर्लिप्तता को जान पाता है।

ऐसा बोध होते ही समस्त बुद्धि—व्यापार अर्थात् समस्त भोग दृष्टा के लिये व्यर्थ हो जाते हैं। उनसे विरक्ति हो जाती है। वे आत्मबोध में बाधा दिखते हैं। अर्थात् शुद्ध चैतन्य रस यानी आनन्द में वे बाधा दिखते हैं। मलप्रवाह दिखते हैं। कषाय राशि दिखते हैं। अतः उधर गति ही नहीं होती। जिस प्रकार शौच यानी आन्तरिक और बाह्य पवित्रता से अंगो के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है (इसे ही योगदर्शन में कहा गया है — 'शौचात् स्वांग जुगुप्सा, परैरसंसर्गः'), उसी प्रकार आत्मज्ञान से बुद्धि व्यापारों से ही जुगुप्सा हो जाती है और उससे संसर्ग का संकल्प नहीं उठता। तब द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है। योगदर्शन की भाषा में — 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेः अवस्थानं'।

प्रश्न : तो क्या मन और बुद्धि का स्वरूप जानने का प्रयोजन केवल आत्मज्ञान यानी द्रष्टा का स्वरूप ज्ञान ही है?

उत्तर : नहीं। केवल द्रष्टा यानी आत्मा को जानने का भाव और संस्कार ही मुख्य हो, ऐसे लोग विरले ही होते हैं। परन्तु संसार में अपना काम दक्षता और कुशलता से करने के लिये भी मन और बुद्धि के स्वरूप को जानना आवश्यक है।

हम जो कुछ भी जानते हैं, उस जानने को प्रमा कहा जाता है। प्रमा का अर्थ है यथार्थ और सम्यक ज्ञान। इसका उलटा अप्रमा है। अप्रमा का अर्थ है अयथार्थ या भ्रान्त ज्ञान। अतः प्रमा और अप्रमा दोनों का स्वरूप जानने से मन और बुद्धि स्वस्थ सम्यक रहते हैं।

1.5 मन के गुण और धर्म

प्रश्न : मन और बुद्धि के गुण और धर्म क्या है?

उत्तर : क्रमशः इन्हें समझना उचित होगा। सर्वप्रथम मन के गुण और धर्म को समझते हैं। मन अभौतिक पदार्थ है। वह महाभूतों से उत्पन्न नहीं होता। मन अहम्भाव से उत्पन्न है। इसे न्यायदर्शन में 12 प्रमेयों में से एक कहा गया है।

प्रश्न : प्रमेय क्या हैं और वे कितने होते हैं?

उत्तर : प्रमा का अर्थ है यथार्थ ज्ञान। जिन वस्तुओं का या तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, उन्हें प्रमेय कहते हैं। प्रमा का जो करण है अर्थात् साधन या माध्यम है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण बुद्धि के विषय हैं। उन पर विचार आगे बुद्धि पर विचार के क्रम में करेंगे। प्रमा से जो जाना जाता है, उसे प्रमेय कहते हैं। ये प्रमेय न्यायदर्शन के अनुसार 12 हैं। जिनका उल्लेख न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के 9वें सूत्र में है —

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥

अर्थात् 12 प्रमेय हैं — आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। इनमें आत्मा ही प्रधान है। क्योंकि वही चेतन तत्त्व है और वही द्रष्टा और भोक्ता है। शरीर आत्मा के भोगों का आधार है। अर्थात् शरीर के रहने पर ही सुख दुःख आदि के भोग होते हैं। शरीर के बिना कोई भोग प्राप्त होना सम्भव नहीं होता। इन्द्रियाँ ही भोग का करण हैं और मन आन्तर इन्द्रिय है तथा बुद्धि समस्त

अनुभवों का आधार है। इसीलिये मन और बुद्धि को जानना, उनके सम्यक स्वरूप को जानना सर्वोपरि आवश्यक है। आत्मा के भोक्तव्य विषय को अर्थ कहते हैं। गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये आधारभूत अर्थ हैं। ये इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होते हैं और मन इनको बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय शरीर कहा जाता है (चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्यायदर्शन 1/1/11)। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नपूर्वक होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते हैं। शरीर ही इसका आधार है।

प्रवृत्ति और दोष शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बंधित है। एक देह त्यागकर अन्य देह में जाने की गति का नाम प्रेत्यभाव है। सुःख दुःख आदि सभी उपभोग फल कहे जाते हैं। अपवर्ग का अर्थ हैमोक्ष। इस प्रकार ये 12 प्रमेयों की सार रूप में व्याख्या है। न्यायदर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुःख दुःख और ज्ञान ये आत्मा के परिचायक चिन्ह (लिंग) हैं। उक्त अध्याय और आह्निक का 10वां सूत्र है – 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।'

इन्द्रियों की रचना पंचमहाभूतों से है। पृथ्वी से गंध, जल से रस, अग्नि से तेज, आकाश से शब्द और वायु से स्पर्श। ये पाँच आधारभूत इन्द्रिय विषय हैं।

मन का चिन्ह यह कहा गया है कि वह एक साथ ज्ञान को ग्रहण नहीं करता, क्रमशः ही करता है। प्रतिकूल अनुभूति का होना ही दुःख है। दुखों की अत्यन्त समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं।

1.6 बुद्धि के गुण और धर्म

प्रश्न : बुद्धि के गुण और धर्म क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि एक महान शक्ति है। वह प्रकृति का एक अतिविशिष्ट रूप है। उसके द्वारा ही व्यक्ति बोध ग्रहण करता है। बोध ग्रहण करने की प्रक्रिया औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा से ही निर्धारित होती है। इसी को महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में साधनपाद नामक दूसरे अध्याय के 17वें सूत्र में इन शब्दों में कहा है – 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।'

अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही हेय का हेतु है। आत्मसत्ता या पुरुष को ही द्रष्टा कहा जाता है। मनुष्यों को जो भी सुख या दुख के अनुभव होते हैं, वे बुद्धि में ही होते हैं। वस्तुतः जिसे वासना कहते हैं, उसकी केवल स्मृति होती है। जब वह कर्माशय का आधार बनती है, तब वह सुख या दुख देती है। वासना कर्माशय का आधार किस प्रकार बनती है, इसका वर्णन योगशास्त्र में किया गया है। पुण्य कर्मों से पुण्य कर्माशय बनते हैं और पापकर्मों से पाप के कर्माशय बनते हैं। इस प्रकार पुण्य और पाप का विवेक आवश्यक है। यह विवेक भी बुद्धि में ही होता है। अतः बुद्धि के द्वारा शास्त्रों का अध्ययन करके अथवा गुरु से सुनकर पुण्य और पाप के स्वरूप को जानना आवश्यक है। चित्त का जैसा स्तर होगा, वैसी ही उसकी दृष्टि होगी। इसलिये स्वस्थ विश्वदृष्टि के लिये स्वस्थचित्त का होना आवश्यक है।

प्रश्न : स्वस्थ चित्त और अस्वस्थ चित्त का भेद समझाइए?

उत्तर : ज्ञान सम्पन्न चित्त स्वस्थ है। अज्ञान में डूबा या निमग्न या अज्ञान में रत चित्त अस्वस्थ है। स्वस्थ चित्त सदा प्रामाणिक ज्ञान की खोज में रहता है। वह विपर्ययों या विकल्पों में अर्थात् मानसिक भटकावों में नहीं भटकता। प्रमाण में ही ध्यान देता है।

प्रश्न : प्रमाण क्या हैं और वे कितने प्रकार के हैं?

उत्तर : प्रमाण का करण ही प्रमाण है। अर्थात् ज्ञान का जो साधन है, वही प्रमाण है। सत्य ज्ञान, सम्यक ज्ञान, सही ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण के मुख्य भेद तीन हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। योगसूत्र में समाधिपाद का सातवां सूत्र है – 'प्रत्यक्ष अनुमान आगमः प्रमाणानि।' जो प्रत्यक्ष दिखता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिसका अनुमान किया जाए और तर्क तथा विवेक से प्रामाणिक सिद्ध हो, वह अनुमान प्रमाण है। जो शास्त्रों एवं आप्त पुरुषों के कथन हैं, वे आगम प्रमाण हैं। जिसने तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है उसे आप्त कहते हैं।

प्रमाण से स्मृति अलग है। पहले से अनुभूत विषय का स्मरण रहना या स्मरण होना स्मृति है। जबकि प्रमाण का प्रश्न नवीन ज्ञान के सन्दर्भ में उठता है।

शास्त्रों में प्रमाणों की सूक्ष्म विवेचना विस्तार से की गई है। न्यायदर्शन में उपमान को चौथा प्रमाण कहते हैं जो इन तीन के अतिरिक्त भेद हैं। सादृश्य के आधार पर परीक्षण कर उपमान प्रमाण निश्चित किया जाता है। विलक्षणता के आधार पर भी उपमान का निश्चय हो सकता है। जैसे अगर कोई वनवासी किसी किसान को बताये कि वन में उड़द जैसा कोई पौधा दिखे तो उसे माषपर्णी औषधि जानो। किसान वन में जाकर उसे सादृश्य के आधार पर पहचान ले, तो यह उपमान हुआ। इसी प्रकार कोई बताये कि विशाल भैंसे जैसा कोई प्राणी वन में दिखे, जिसकी नाक पर सींग हो, तो वह गेंडा होगा। तो वन में जाकर विलक्षणता के आधार पर उसे पहचान लेना भी उपमान प्रमाण है।

स्वस्थ चित्त व्यक्ति विद्या के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रमाणों के आधार पर किसी वस्तु या तत्त्व को प्रामाणिक रूप से जानता है।

प्रश्न : अस्वस्थ चित्त के क्या लक्षण हैं?

उत्तर : अज्ञान में डूबा चित्त अस्वस्थ चित्त है। चित्त की अस्वस्थता अविद्या से होती है अर्थात् अज्ञान से होती है। इसलिये अज्ञान को दूर करना परम कर्तव्य है। अज्ञान दूर होने पर ही विश्व का सही स्वरूप जाना जा सकता है। अगर बुद्धि अज्ञानग्रस्त है या उसमें मल और कषाय भरे हैं, तो वह विश्व को भी दूषित रूप में देखेगी। इसीलिये बुद्धि की निर्मलता की साधना सर्वाधिक आवश्यक है।

प्रश्न : बुद्धि की मुख्य वृत्तियाँ क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि की तीन वृत्तियाँ होती हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त। जाग्रत बुद्धि में ही प्रत्यय का स्पष्ट ज्ञान होता है। स्वप्न और सुषुप्ति की वृत्तियों में अभाव का प्रत्यय होता है जो बुद्धि के सत्वगुण को ढक लेता है। इसे ही तमोगुणी प्रभाव कहते हैं।

प्रश्न : बुद्धि के कार्य क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि का अर्थ है ज्ञान होना। अतः ज्ञान ही बुद्धि का कार्य है। इसके साथ ही ज्ञान का साधन भी बुद्धि ही है। अतः ज्ञान प्राप्त करना यानी ज्ञान का साधन बनना, यह भी बुद्धि का कार्य है। इस विषय में न्यायदर्शन में प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक का 15वां सूत्र है –

'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।'

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये तीनों ही पद एक ही अर्थ के वाचक हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम तो सामान्यतः बुद्धि का मुख्य कार्य है – जानना। 'बोधनं बुद्धिः'। अतः इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का पर्यायवाची ही हो जाती है। ज्ञान की ही उपलब्धि होती है। अतः बौद्धिक उपलब्धि ज्ञान ही है। परन्तु इसके साथ ही बुद्धि का एक निर्वचन यह भी है कि 'बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः' अर्थात् जिससे जाना जाये, वह बुद्धि है। इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का साधन है। इस प्रकार बुद्धि ज्ञान है और ज्ञान का साधन भी है। बुद्धि का मुख्य कार्य ज्ञान ही है। ज्ञान का बोध चेतन आत्मा को होता है।

प्रश्न : सृष्टि के स्वरूप पर प्रकाश डालें?

उत्तर : सृष्टि के मूल में त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ये तीन गुण हैं – सत्व, रज और तम। साम्यावस्था में ये प्रकृति में साम्य रूप में रहते हैं। जब इन गुणों की विषमता होती है अर्थात् साम्य अवस्था भंग होती है और विक्षोभ होता है, तभी यह विविधतापूर्ण सृष्टि बनती है। इस क्षोभ और विषमता की स्थिति को प्रकृति की विकृति कहते हैं। पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय मन। ये 16 विकृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त 7 ऐसे तत्त्व होते हैं जिन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। वे हैं – प्रकृति से महत् तत्त्व का बनना। महत् तत्त्व से महान अहंकार या अहम् तत्त्व और फिर उनकी 5 तन्मात्रायें। जिन्हें रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा और शब्द तन्मात्रा कहते हैं। ये 5 तन्मात्रायें और अहम् तथा महत् इन 7 को प्रकृति-विकृति कहते हैं।

इस प्रकार एक प्रकृति, 7 प्रकृति-विकृति और 16 विकृतियाँ ये 24 तत्त्व हुये। 25वाँ तत्त्व है पुरुष यानी जीवात्मा। जो 24 तत्त्वों से स्वतन्त्र है। इन 25 तत्त्वों से यह सृष्टि होती है। अतः इन 25 तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मन के स्वरूप को ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

प्रश्न : सृष्टि को हम जानते कैसे हैं?

उत्तर : बुद्धि के द्वारा। यह बुद्धि महत् तत्त्व की अभिव्यक्ति है। वह बुद्धि ही 16 विकृतियों को जान पाती है और स्वाध्याय तथा अभ्यास से प्रकृति-विकृति और प्रकृति को भी जान पाती है। यानी वह 24 तत्त्वों को जान सकती है। इसीलिये बुद्धि सर्वाधिक उन्नत तत्त्व है। सबकुछ उसके द्वारा ही जाना जाता है। परन्तु बुद्धि को भी क्रमशः अधिक उन्नत और परिष्कृत बनाने की साधना करनी होती है। बुद्धि ही मन पर नियन्त्रण रख सकती है। इसी को भगवद् गीता में अध्याय 3 के श्लोक 42 में इन शब्दों में कहा गया है –

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात् स्थूल रूप से दिखने वाले सामान्य शरीर की तुलना में इन्द्रियाँ अधिक सूक्ष्म और अधिक बलवान होती हैं। अतः वे शरीर से श्रेष्ठ मानी जाती हैं। इन्द्रियों से श्रेष्ठ है मन और उस मन से भी श्रेष्ठ है बुद्धि। जो बुद्धि से श्रेष्ठतम है और परे है, वह है आत्मा।

इसीलिये भगवान कृष्ण ने अगले श्लोक में अर्जुन को निर्देश दिया –

एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

अर्थात् हे अर्जुन आत्मा को बुद्धि से भी पर अर्थात् श्रेष्ठतर, सूक्ष्मतर और अधिक बलवानजानकर बुद्धि के द्वारा मन को वश में रखो तभी तुम कामनाओं और ऐषणाओं तथा मोह, लोभ, क्रोध, मद, राग और द्वेष सभी को नियन्त्रित कर सकोगे।

इस प्रकार यह मन और बुद्धि के विषय में हमारे शास्त्रों का साररूप श्रीमद्भगवद् गीता में बताया गया है।

1.7 मन और बुद्धि का विश्वदृष्टि से सम्बन्ध

प्रश्न : क्या विश्वदृष्टि मन और बुद्धि से रूपायित होती है?

उत्तर : निश्चय ही। समस्त विश्व को प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मन और बुद्धि के द्वारा ही देख पाता है। किसी भी वस्तु या क्रिया का स्वरूप, देखने वाले मन और बुद्धि की संरचना से निर्धारित होता है। अर्थात् देख रही दृष्टि और घट रही या विद्यमान घटना और क्रिया दोनों जीवात्मा के स्तर पर युगपत् अर्थात् साथ-साथ हैं। दोनों की अन्तःक्रिया का परिणाम देखना होता है। अतः एक ही घटना और क्रिया को मन और बुद्धि की संरचना के भेद से व्यक्ति अलग-अलग रूप में देखते और समझते हैं। इसी प्रकार विश्व को भी व्यक्ति कैसे देखता और समझता है, यह उसके मन और बुद्धि के स्वरूप पर निर्भर है। यानी विश्वदृष्टि बनती है बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान से और मन की वृत्तियों से।

प्रश्न : स्मृति, अनुभव और विश्व का परस्पर सम्बन्ध क्या है?

उत्तर : अनुभव किये हुये विषय का चित्त में यथावत् ज्ञान होना स्मृति है। स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अनुभव से जानी हुई बात को या वस्तु को अनुभूत कहते हैं। प्रत्येक अनुभूत वस्तु का संस्कार भी चित्त में पड़ता है। इस प्रकार बुद्धि की देखने की शक्ति ज्ञान से निर्धारित होती है और हम विश्व को वैसे ही देखते हैं जैसी हमारी बुद्धि होती है। इसीलिये बुद्धि को निर्मल करने पर हिन्दू धर्म में निरन्तर बल दिया जाता है। इस निर्मल बुद्धि से ही सही विश्वदृष्टि प्राप्त होती है। शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण करने के लिये भी सही विश्वदृष्टि आवश्यक है जो निर्मल बुद्धि के द्वारा सम्भव है।

शास्त्रों में वर्णित विश्व इस प्रकार का है। बृहदारण्यक उपनिषद् के शब्दों में – 'आरम्भ में पुरुष के रूप में केवल ब्रह्म था। उसने अन्य की कामना से अपना विस्तार कियातब एक ही दो भागों में विभक्त हो गया – नर और नारी रूप में। मनुष्य को उत्पन्न करने के साथ ही ब्रह्म ने अनगिनत जीव उत्पन्न किये। वे सभी जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये और उसमें ही लीन हो जाते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई सगुण विश्व नहीं। वस्तुतः ब्रह्म का पूरी तरह वर्णन करना इसलिये असम्भव है कि वर्णन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ब्रह्म का ही अंश है। अतः अंश अंशी का वर्णन नहीं कर सकता। जैसे हमारा हाथ स्वतः हमारे व्यक्तित्व के विषय में पूर्ण रूप से नहीं लिख सकता। मन, बुद्धि, अध्ययन, ज्ञान, शास्त्र, लोक सबका आश्रय लेकर ही वह समस्त व्यक्तित्व का वर्णन कर सकता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ब्रह्म का अनुभव और दर्शन साधना के द्वारा कर सकता है। परन्तु ब्रह्म का पूरा वर्णन कोई भी व्यक्ति रूप में नहीं कर सकता। जबकि स्वयं ब्रह्ममय आत्मा को या आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप को साधना और तप के द्वारा जान सकता है, देख सकता है।

अतः विश्व के विषय में किये गये सभी वर्णन – वर्णनकर्ता की बुद्धि से रूपायित और निर्धारित होते हैं। उसमें विश्व का आंशिक निरूपण ही हो पाता है। विश्व इन सभी निरूपणों से वृहत्तर और महत्तर है। इसीलिये शास्त्रों में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों और अन्नत कोटि सृष्टियों की बात कही गई है जिनको सामान्य बुद्धि से देखा जाना सम्भव नहीं है। इसी बात को शास्त्रों ने कहा है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है, वर्णनातीत है। उस वर्णनातीत ब्रह्म को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में संकेतित किया है।

प्रश्न : जीवात्मा, ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध शास्त्रों के अनुसार क्या है?

उत्तर : ईश्वर, जीवात्मा और जगत् – इन तीनों के विषय में भारतीय शास्त्रों में विराट साहित्य है। सामान्य व्यक्ति उस सबको पढ़ भी नहीं पाता, जानना तो बहुत दूर की बात है। अतः मुख्य बात यह है कि शास्त्रों के ज्ञान के प्रकाश में सामान्य मानवधर्म का भलीभांति ज्ञान प्राप्त कर अपने संस्कारों और समाज में अपनी स्थिति तथा अपनी आन्तरिक सामर्थ्य के अनुरूप स्वधर्म का निश्चय करें और उसके लिये ही कार्य करें।

परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि विश्व के विषय में ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं। ऐसा होता तो हमारे पुराणों में विश्व का इतने विस्तार से वर्णन नहीं होता। पुराणों में जगत् का विशद रूप वर्णित है। द्वीपों, वर्षों, पर्वतों, समुद्रों, नदियों, उनके पास के देशों एवं उनके स्वरूप-वर्णन का विस्तार, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की गतियों, युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों का उल्लेख, शास्त्रों में विस्तार से पाया जाता है। इसके साथ ही पुराणों में प्राचीन भारत के भूगोल और इतिहास का भी वर्णन मिलता है।

सृष्टि रचना की प्रक्रिया का वर्णन सामान्यतः इस प्रकार हुआ है कि अव्यक्त प्रकृति से महत् तत्त्व, अहंकार एवं तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। देवों, पितरों, मानवों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, गुल्मों आदि का भी वर्णन वहाँ है।

विश्व के सभी द्वीपों का वर्णन है और जम्बू द्वीप का विस्तार से वर्णन है। अशोक के रूपनाथ प्रस्तर लेख में जम्बूद्वीप का उल्लेख है। मत्स्य पुराण ने जम्बूद्वीप, शकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंच द्वीप, शाल्मलि द्वीप, गोमेदक द्वीप एवं पुष्कर द्वीप का विस्तार से वर्णन किया है तथा इन्हें घेरने वाले समुद्रों का भी वर्णन किया है। इसके बाद भारतवर्ष का बहुत विस्तार से वर्णन पुराणों में है और उसके राजवंशों का भी वर्णन पुराणों में है। अतः विश्व के विषय में इन सबसे एक दृष्टि बनती है जो विश्व की अन्नतता और विराटता को सामने लाती है। विश्व या जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति या मूर्ति है। अमूर्त का मूर्तन है विश्व। इसमें प्रकृति जड़ है, पुरुष या आत्माएँ चैतन्य हैं और विशुद्ध चेतन तत्त्व परमात्मा है। परमात्मा समस्त उपाधियों से परे हैं। जीव में उस परमसत्ता का बीज रूप होता है, वही आत्मा है। जगत् या विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त कारण परमात्मा हैं। उपादान कारण प्रकृति हैं। शुद्ध चेतन तत्त्व अव्यक्त हैं। वे सत्य हैं, ज्ञान हैं, अन्नत हैं। वही ज्योतियों की ज्योति हैं। कूटस्थ, निर्विकार, अपरिणामी हैं। प्रकृति सक्रिय, विकारी और परिणामी है। उसमें क्रिया, नियम, व्यवस्था और ज्ञान चेतन तत्त्व की सन्निधि से है। जीव के भीतर निहित चेतन तत्त्व आत्मा है। समस्त चैतन्य बीजों के कारक परमात्मा हैं। इसे ही गीता में सरल ढंग से इस प्रकार समझाया गया है :-

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (अध्याय 9, श्लोक 10)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (अध्याय 14, श्लोक 3 एवं 4)

अर्थात् हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत रचती है। यह जगत सतत परिवर्तनशील है। महत्त्व ही परम चेतना की योनि है, जिसमें ये परम चेतन ब्रह्म चिन्मय ज्योति रूप गर्भ स्थापित करता है। समस्त जीवों की उत्पत्ति महत्त्व और चिन्मय ज्योति के संयोग से ही होती है (जीव सम्भव होते हैं)। महत्त्व की अंशभूत समस्त योनियों (महद् योनिः) में उत्पन्न होने वाले सभी शरीरों में चेतन-तत्त्व को डालने वाला (बीजप्रदः) पिता मैं ही हूँ। इस प्रकार परमात्मा सभी आत्माओं के पिता हैं। इसीलिए उन्हें परमपिता कहा जाता है।

विश्व को, आत्मा को और परमात्मा को, तीनों को जानने के योग्य बुद्धि और मन को उन्नत और निर्मल बनाने का महत्त्व स्पष्ट है। विश्व, आत्मा और ब्रह्म तीनों को जानने के लिये मन और बुद्धि का निर्मल और पवित्र होना तथा परिश्रमशील, तपस्वी एवं साधक होना आवश्यक है।

प्रश्न : मन और बुद्धि को निर्मल बनाने और शक्तिशाली बनाने की प्रक्रिया क्या है?

उत्तर : मन और बुद्धि के विषय में प्रामाणिक ज्ञान के लिये कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को जानना आवश्यक है। क्योंकि अनेक जन्मों के संस्कार चित्त में उपस्थित रहते हैं और बुद्धि की सामर्थ्य भी तदनुसार ही होती है तथा मन और बुद्धि का झुकाव भी संस्कारों और कर्माशयों से निर्धारित होता है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू धर्म का मूल है। इसे बहुत विस्तार से शास्त्रों में बताया है। माता-पिता और सन्तानों से दैहिक और मानसिक समनुरूपता तो पाई जाती है परन्तु फिर भी एक ही माता-पिता की सन्तानों में एक सी शिक्षा पाने पर भी अलग-अलग संस्कार विगत जन्मों के कारण ही प्रतिफलित होते हैं। यद्यपि आत्मा अपने भावी जन्म के लिये अपने माता-पिता का चयन कर्मफल के नियमों के अनुसार करने को प्रेरित होती है। तथापि एक ही कुल में जन्म लेने पर भी भिन्न-भिन्न सन्तानों के संस्कार और बौद्धिक सामर्थ्य भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। इसका कारण विगत जन्म के संस्कार ही हैं।

महाभारत और उसके अंग भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है और उसके बहुत से उदाहरण भी दिये गये हैं। इस विषय में ज्ञातव्य है कि अनेक यवन दार्शनिकों ने अपने पूर्वजन्म का उल्लेख किया और पुनर्जन्म में अटल विश्वास व्यक्त किया था। स्वयं प्लेटो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर विश्वास करता था। यवन दार्शनिक एम्पीडॉकिल्स अपने कई जन्मों का स्मरण करता था। जिसमें वह कभी लड़का था और कभी लड़की तथा एक जन्म में पक्षी भी था और किसी जन्म में मछली भी था। इतना ही नहीं एक विगत जन्म में वह झाड़ी के रूप में भी रहा था।

पुनर्जन्म का दर्शन आत्मा के अविनाशी होने का दर्शन भी है। परन्तु बौद्ध दर्शन कर्मफल और पुनर्जन्म को मानते हुये भी आत्मा के विषय में अधिक प्रकाश नहीं डालता। फिर भी जैनों, बौद्धों, सिखों, आर्यसमाजियों और सभी सनातनी हिन्दुओं में पुनर्जन्म एक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। विगत जन्मों के परिणामस्वरूप

वर्तमान जन्म में सुख और दुख तो प्राप्त होते ही हैं, वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ के कारण भी बहुत से सुख और दुख मिलते हैं। परन्तु मन और बुद्धि का स्तर और पवित्रता या मलिनता का निर्धारण मुख्यतः विगत जन्मों के कर्माशय के कारण होता है।

इसका सम्बन्ध पाप और पुण्य की अवधारणा से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा है।

प्रश्न : मन और बुद्धि के स्वरूप-विशेष से हिन्दू विश्वदृष्टि किस प्रकार बनती है?

उत्तर : बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसे सम्यक् रूप से समझना आवश्यक है। उदाहरणपूर्वक ही यह सरल ढंग से समझा जा सकेगा।

पहले हिन्दू विश्वदृष्टि के उदाहरण लें, जो संस्कारी मन और शास्त्रों से अवगत बुद्धि से बनते हैं। इसके दृष्टान्त प्रत्येक सनातनी संस्कारी हिन्दू की दिनचर्या से ही प्रारम्भ देखे जा सकते हैं।

संस्कारी हिन्दू की दिनचर्या –

ब्राह्ममुहूर्त में जागरण : संस्कारी हिन्दू ब्राह्ममुहूर्त में उठता है। क्योंकि सूर्योदय से चार घड़ी (लगभग डेढ़ घंटे) पूर्व ही ब्राह्ममुहूर्त का आरम्भ होता है। ब्राह्ममुहूर्त में ही जग जाना चाहिये। इस समय सोना शास्त्र द्वारा वर्जित है। 'आचारेन्दु शेखर' नामक ग्रन्थ का प्रसिद्ध श्लोक है –

ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी ।

तां करोति द्विजो मोहात् पादकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में सोने से पुण्य का क्षय होता है। अगर उस समय कोई सोता रहे, तो उसे पादकृच्छ नामक व्रत के द्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिये।

करावलोकन : ब्राह्ममुहूर्त में उठकर सर्वप्रथम करावलोकन करते हैं अर्थात् अपने दोनों हाथ देखते हैं और इस मन्त्र का पाठ करते हैं –

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती ।

करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम् ॥

अर्थात् हमारे हाथ के अग्रभाग में यानी पुरुषार्थ की प्रबलता में लक्ष्मी जी का निवास है। मध्य में सरस्वती का निवास है अर्थात् विद्यापूर्वक ही पुरुषार्थ किया जाता है। मूल में सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा जी हैं। अतः प्रभात काल में करावलोकन करना चाहिये। कुछ सम्प्रदायों में इस मन्त्र के दूसरे भाग में करमूल में शक्ति को स्थित कहते हुये पाठ करते हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे भी बार-बार सुनकर इसे रट लेते हैं या अपने ढंग से इसके भाव का स्मरण कर दोनों हाथ देखकर फिर दोनों हथेलिया मलकर, मुँह में फेरते हैं।

पृथ्वीवन्दना : इसके बाद पृथ्वीवन्दना की जाती है। जिसका मन्त्र है –

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते ।

विष्णु पत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

अर्थात् हे भगवती पृथ्वी, आप स्वयं भगवान विष्णु के द्वारा रक्षित और पोषित उनकी प्रिय पत्नी हैं। समुद्र ही आपके वसन हैं और पर्वत ही आपके पयोधर हैं। मैं आप पर चरण रख रहा हूँ। इसके लिये क्षमायाचना करता हूँ।

अब जो हिन्दू इस प्रकार से पृथ्वी से क्षमायाचना करते हुये दिनचर्या प्रारम्भ करता है, उसकी विश्वदृष्टि यही होती है कि यह पृथ्वी तो स्वयं भगवान विष्णु के द्वारा रक्षित और पोषित है। अन्यत्र एक श्लोक में यह भी कहा गया है कि पृथ्वी लक्ष्मी माता की प्रिय सखी हैं। ऐसे में संस्कारी हिन्दू कभी भी पृथ्वी के विषय में और पृथ्वी के भविष्य के विषय में हताश निराश नहीं होता।

मानसिक शुद्धि : इसके बाद प्रत्येक संस्कारी हिन्दू भगवान का स्मरण करते हुये और वन्दन करते हुये माता-पिता और उपस्थित गुरुजनों को प्रणाम करते हैं। साथ ही इस मन्त्र का पाठ करते हैं। जिससे कि मानसिक शुद्धि के भाव दृढ़ हो जाते हैं –

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

अतिनीलघनश्यामं नलिनायतलोचनम् ।

स्मरामि पुण्डरीकाक्षं तेन स्नातो भवाम्यहम् ॥

अर्थात् शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशा में कमलनयन भगवान विष्णु का स्मरण करना चाहिये। जिनका वर्ण नीले बादलों जैसा या नीले आकाश जैसा है। मैं उनका स्मरण करता/करती हूँ जिससे कि स्नान से प्राप्त शुद्धता मुझमें बनी रहे।

प्रार्थना : तदुपरान्त हाथ जोड़कर भगवान से यह प्रार्थना की जाती है –

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव! श्रीनाथ! विष्णो! भवदाज्ञयैव ।

प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

सुप्तः प्रबोधितो विष्णो! हृषीकेशेन यत् त्वया ।

यद्यत् कारयसे कार्यं तत् करोमि त्वदाज्ञया ॥

अर्थात् हे तीनों लोकों में चैतन्य के रूप में विद्यमान भगवान, मैं आपकी आज्ञानुसार प्रातः उठकर यह संसार यात्रा करूँगा। आपने मुझे जो प्रेरणा दी है, उसके अनुसार सभी कार्य जो आज करणीय हैं, सम्पन्न करूँगा। (इसमें दी गई आज्ञा या प्रेरणा का अर्थ है शास्त्रों में कहे गये कार्य। क्योंकि ब्रह्मपुराण और आचारेन्दु शेखर आदि शास्त्रों में भगवान का स्पष्ट कथन है कि 'वेद और धर्मशास्त्र मेरी ही आज्ञा हैं')।

अजपाजप : इसके बाद यह भाव लाना चाहिये कि दिनभर जो हमारी श्वास प्रश्वास की क्रिया चलती है, उसकी ओर शान्त क्षण में हम ध्यान दें और सांस लेते समय 'सः' तथा छोड़ते समय 'हं' – इन शब्दों का मानसिक उच्चारण हो रहा है। जिसका अर्थ है कि श्वास-श्वास में यह भगवान की कृपा ही भीतर जा रही है। इसे ही श्वास-श्वास में भगवान का रमना या भगवान का स्मरण भी कहा जाता है। इसके लिये संस्कृत में कई श्लोक भी हैं। जिनका यहाँ उल्लेख आवश्यक नहीं लग रहा है।

देवस्मरण : इसके उपरान्त सर्वप्रथम श्रीगणेश की वन्दना करते हैं और फिर विष्णुभगवान, शंकर भगवान, जगदम्बा दुर्गा तथा सूर्यदेव का स्मरण और वन्दन करते हैं। इसके उपरान्त तीनों देवों – ब्रह्म, विष्णु, महेश का पुनः स्मरण करके नौ ग्रहों का सभी ऋषियों का तथा सप्तस्वरों का सात अधोलोकों का, सातों समुद्रों का, सातों कुलपर्वतों का, सप्तऋषियों का और सातों महावनों का, सातों द्वीपों का और सातों लोकों का स्मरण करते हैं। सबसे अन्त में प्रकृति के पाँचों तत्त्वों का इस श्लोक के साथ स्मरण करते हैं –

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
स्पर्शी च वायुर्ज्वलितं च तेजः।

नभः सशब्दं महता सहैव
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥

अर्थात् पृथ्वी सुगन्ध से भरपूर रहे। सभी जलाशय सरस हों, वायु मधुर स्पर्श देती रहे और तेज प्रज्वलित रहे। शब्द सहित आकाश एवं महत् तत्त्व जीवन में कल्याण की वृद्धि करते रहें और दिन मंगलमय हो।

इसके बाद बहुत से श्लोकों के स्मरण का विधान है। जिन लोगों को श्लोक आदि नहीं भी आयें तो वे तुलसी, सूर, कबीर, मीराबाई आदि के प्रसिद्ध भजनों का गायन करते हैं जिन्हें प्रभाती गायन कहा जाता है। सबसे अन्त में यह श्लोक पढ़कर फिर दिनचर्या प्रारम्भ की जाती है –

महर्षिर्भगवान् व्यासः कृत्वेमां संहितां पुरा।
श्लोकैश्चतुर्भिर्धर्मात्मा पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदाराशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

इमां भारतसावित्रीं प्रातरूत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

अर्थात् भारत संहिता (महाभारत) सम्पूर्ण कर महर्षि वेदव्यास अपने पुत्र शुकदेव जी महाराज को पढ़ाते हैं— “हे पुत्र, सभी मनुष्यों का हजारों बार जन्म हो चुका है। हजारों हजार बार अलग-अलग माता-पिता हुये हैं और हजारों हजार बार सबके अलग-अलग सन्तानें और पति तथा पत्नी आदि होते रहे हैं। इस तथ्य को जानकर पण्डितजन अर्थात् ज्ञानीजन कभी भी विचलित नहीं होते। जबकि इस तथ्य से अनजान लोग हजारों बार हर्षित और हजारों बार भयभीत होते रहते हैं।

इसीलिये जन्म चक्र का ध्यान रख मैं बार-बार हाथ उठाकर कहता हूँ कि धर्म का ही पालन करना चाहिये। धर्ममय अर्थ और धर्ममय काम ही पुरुषार्थ है। अतः धर्म ही प्रधान है। किसी कामना के वेग से या लोभ से या भय से धर्म को कभी भी त्यागना नहीं चाहिये। क्योंकि संसार में सुख और दुख तो अनित्य हैं परन्तु धर्म ही नित्य है। जीवात्मा नित्य है परन्तु इसके जन्म और भोग के विविध हेतु अनित्य हैं। वे निरन्तर परिवर्तनशील हैं।”

ये श्लोक भारतसावित्री कहलाते हैं और इनका नित्य प्रातः पाठ करने वाले को सम्पूर्ण महाभारत के पाठ का फल मिल जाता है और परमात्मा की प्राप्ति होती है।

स्पष्ट है कि दिनचर्या का आरम्भ ऐसी पवित्र भावना और व्यापक तथा उदार चिन्तन के साथ करने वाले की दृष्टि और भाव सदा व्यापक लक्ष्यों का ध्यान रखने वाले रहेंगे। उसमें कोई क्षुद्रता या संकीर्णता नहीं आयेगी और अगर आ गई तो उसके लिये लज्जा और संकोच का भाव होगा। इस भावना के साथ जो विश्वदृष्टि प्राप्त होती है, वह सम्पूर्ण विश्व के प्रति सर्वप्रथम मैत्री के भाव से ही दृष्टिपात करती है। वैदिक वचन है—

‘मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षये।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।’ (यजुर्वेद 26/18)

अर्थात् मैं समस्त प्रकृति तथा प्राणियों और जीवों को मैत्री भाव से ही देखूँ। हम सब परस्पर मैत्री भाव से देखते हुये ही एक दूसरे के गुण दोष की समीक्षा करें।

इसी प्रकार अथर्व वेद में भी ऐसे अनेक वचन हैं, जिनमें प्रार्थना की गई है कि हम सदा सद्बुद्धि और सद्भावना का विस्तार करें और सबके लिये कल्याण की ही बात सोचें।

इस आदर्श से सामाजिक जीवन के प्रति भी समतामूलक भाव ही आते हैं। इस विषय में ऋग्वेद के तीन प्रसिद्ध सौमनस्य मन्त्र हिन्दू समाज द्वारा प्रत्येक समारोह और आयोजनों में गाये जाते हैं —

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते।।

समानो मन्त्रः समितिः समानी।

समानं मनः सह चित्तमेषाम्।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

अर्थात् हम सब साथ-साथ प्रगति करें, परस्पर अनुकूल वाणी बोलें और हमारे मन सद्भाव से भरे हुये हों। जिस प्रकार कि देवता परस्पर प्रीति करते हैं और अविरोध भाव से अपने-अपने दायित्व को पूरा करते हैं, वैसे ही हम रहें। हमारी मन्त्रणायें समतामूलक हों। हमारी सभा में सौमनस्य रहे और विचारों तथा चित्त में सामंजस्य रहे। हमारे अभिप्राय और हमारी भावनायें परस्पर पूरक हों तथा एकता की सुदृढ़ भावना हमारी सामुदायिक शक्ति का विकास करे। इस विश्वदृष्टि के साथ एक हिन्दू विवेकपूर्वक लोकजीवन में व्यवहार करता है। इसीलिये वह आन्तरिक और बाहरी पवित्रता पर सदा ध्यान रखता है। प्रत्येक हिन्दू के लिये छः कर्म नित्य करणीय माने गये हैं —

संध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्।

वैश्वदेवं तथातिथ्यं षट् कर्माणि दिने दिने।।

अर्थात् ये छः कर्म नित्य करने चाहिये— संध्या, स्नान, जप, देवपूजा, बलिवैश्वदेव तथा आये हुये अतिथि का सत्कार। इनमें से बलिवैश्वदेव को भूतयज्ञ भी कहते हैं। उसकी विधि शास्त्रों में दी हुई है। परन्तु संक्षेप में इन्हें देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ

और ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इसमें नित्य पाँच बलिभाग निकाले जाते हैं। बलि का अर्थ है अंश। अतः अंश निकालना ही बलि है। (मूर्ख लोगों ने और कुछ दुष्टों ने बलि का अर्थ कुर्बानी या 'सेक्रीफाइस' प्रचारित कर रखा है।)

ये पाँच बलिया हैं – गोबलि अर्थात् भोजन का एक अंश पत्ते पर रखकर मन्त्र के साथ कहते हैं कि यह गायों का अंश है, हमारा नहीं है। इसी प्रकार एक दूसरा अंश कुत्तों के लिये निकालते हैं और मन्त्र में कहते हैं कि ये कुत्तों का अंश है, हमारा नहीं। इसके बाद कौओं के लिये बलि निकालते हैं और फिर चीटियों के लिये तथा देवताओं के लिये भी बलि निकालते हैं। हर बार मन्त्र पढ़कर या बिना मन्त्र के ही भावना यह की जाती है कि यह इनका अंश हम निकाल रहे हैं। यह इनका ही है, हमारा नहीं। ये पाँचों भाग भोजन से निकालकर गाय का अंश गाय को खिलाया जाता है, कुत्ते का अंश कुत्ते को खिलाया जाता है और कौओं तथा चीटियों का अंश उपयुक्त स्थान पर पृथ्वी में रख दिया जाता है। देवताओं के लिये जो अंश निकालते हैं, उसमें भोजन का वह अंश नहीं होता, जिसमें नमक मिला हो। अर्थात् दाल, सब्जियाँ, कढ़ी आदि का अंश उसमें नहीं होता। उसे गाय को ही खिला देते हैं क्योंकि गौ में सभी देवता सूक्ष्म और दिव्य रूप में हैं।

ये पाँच बलिया नित्य दी जाती हैं। अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय लोगों ने गौबलि का यह अर्थ प्रचारित कर दिया कि हर हिन्दू नित्य एक गाय काटता है और उसकी बलि देता है। जो घोर अज्ञान अथवा घोर दुष्टता से प्रचारित है। (वे स्वयं नियमित गोमांसभक्षी हैं, इसलिये उन्होंने स्वयं को हिन्दू शास्त्रों पर आचरण करने वालों के समान प्रचारित कियाजिससे उनका विरोध न हो)।

अतिथि यज्ञ का अर्थ है भोजन के समय जो भी ब्राह्मण द्वार पर आ जाये उनको सम्मानपूर्वक भोजन कराये। अतिथि का अर्थ 'मेहमान' या 'गेस्ट' नहीं होता। भ्रातिवश 'गेस्ट' का अनुवाद अतिथि करके अतिथि सत्कार का गलत अर्थ प्रचारित कर दिया गया है। जबकि अतिथि का सुनिश्चित अर्थ ऐसा ब्राह्मण है जो स्वयं खेती या व्यवसाय न करे अपितु वेदों को पढ़े और पढ़ाये तथा भोजन के लिये समय पर धार्मिक सदगृहस्थों के यहाँ द्वार पर पहुँचे। ऐसा अतिथि कभी भी भोजन की याचना नहीं करता अपितु श्रद्धालु और धार्मिक लोग उन्हें देखते ही उनका पूजन, वन्दन और स्वागत सत्कार कर भोजन के लिये सादर निमंत्रित करते हैं। शास्त्रों में यह कहा गया है कि द्वार पर आये ऐसे ब्राह्मण को साक्षात् नारायण ही समझना चाहिये और उनसे कोई कुल या विद्या आदि सम्बन्धी पूछताछ नहीं करनी चाहिये।

इसके साथ ही ब्रह्मयज्ञ भी नित्य किया जाता है जिसका अर्थ है धार्मिक साहित्य का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार का जप या गुरु द्वारा दिये गये मन्त्र का जप। इसी प्रकार हिन्दू विश्वदृष्टि पितरों के लिये नित्य तर्पण एवं पितृ पक्ष में श्राद्ध का भी विधान करती है। यह पूर्वजों को स्मरण रखने तथा उनके प्रति कृतज्ञता की गहरी अभिव्यक्ति है।

नित्य यज्ञ अथवा कम से कम साप्ताहिक यज्ञ या सार्वजनिक पूजा उत्सव आदि हिन्दू गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। इस दिनचर्या और जीवनशैली का पालन संस्कृत से और शास्त्रों से अनजान हिन्दू भी अपने-अपने ढंग से अवश्य करते हैं। अतः हिन्दू विश्वदृष्टि ऐसी ही उदार और व्यापक तथा कोमल और भावपूर्ण दृष्टि है। जो न्याय और समता का सदा आग्रह रखती है।

इसके साथ ही हिन्दू विश्वदृष्टि का अभिन्न अंग है – दान देना तथा जाने अनजाने जो भूलें और दोष हो जायें उनका प्रायश्चित्त करना। दान पर धर्मशास्त्रों में बहुत विस्तार से चर्चा है। मनुस्मृति, महाभारत, याज्ञवल्क्य स्मृति, दक्ष स्मृति, देवल स्मृति तथा सभी पुराणों में दान की महिमा गायी गई है। दान किन्हें देना चाहिये अर्थात् दान के पात्र कौन हैं, दान का काल क्या है, देय पदार्थ क्या हैं, अदेय पदार्थ क्या हैं और दान के स्थल क्या हैं तथा महादान क्या है, इस सब पर शास्त्रों में बहुत विस्तार से वर्णन है। दान के अर्थ की भी मीमांसा है। जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व है, उस पर से अपना स्वामित्व हटाकर यानी स्वामित्व का त्याग करके अन्य का स्वामित्व स्थापित करना दान कहलाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के दान प्रकरण में इसकी स्पष्ट विवेचना है।

वैदिक काल से ही दान की महत्ता चली आई है। ऋग्वेद में विविध प्रकार के दानों का उल्लेख है और दाताओं की प्रशस्ति है। इनमें गोदान की प्रशस्ति सर्वाधिक है। साथ ही अन्न सत्रों का भी उल्लेख है और परिधान दान की भी महिमा कही गई है। वैदिक काल में अश्वदान का भी प्रशंसापूर्ण उल्लेख है। अन्न सत्रों को इन दिनों भंडारा, लंगर आदि नाम भी दिए जाते हैं। प्रतिदिन कई करोड़ लोगों को समस्त भारत में जगह-जगह भंडारे, लंगर, अन्न सत्रों में बिना किसी भी भेदभाव के भोजन कराया जाता है।

मनु के अनुसार दान के चार अंग हैं – दाता, ग्रहीता, श्रद्धा और देय। देवल के अनुसार इसके छः अंग हैं – दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचित काल और उचित देश। दान के तीन प्रकार हैं – नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। जो प्रतिदिन दिया जाये, उसे नित्य दान कहते हैं। जो किसी विशिष्ट अवसर पर दिया जाये, उसे नैमित्तिक दान कहते हैं और जो किसी कामना विशेष से दिया जाये उसे काम्य दान कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता ने दान के तीन प्रकार बताये हैं – सात्विक, राजस एवं तामस।

दान के पात्र –

माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी व्यक्ति, दीन, अनाथ और विशिष्ट गुण वाले व्यक्तियों को दान देना पुण्यप्रद है। इन्हें दान देना ही सफल दान है। किन्तु धूर्तों को अपनी चाटुकारिता या वन्दना करने वालों को, कुशती लड़ने वालों को, कुवैद्य को, जुआरी को, वंचक को, चारण को और चोर को दिया गया दान निष्फल होता है।

महाभारत के वन पर्व में अध्याय 200 में दान के योग्य एवं अयोग्य पात्रों का वर्णन है। वेदपाठी एवं मन्त्रजप तथा यज्ञ करने वाले और स्वाध्यायशील ब्राह्मणों को दान देने से उनके आशीर्वाद से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। इसके स्थान पर 16 प्रकार के दान को व्यर्थ या निष्फल बताया गया है।

16 प्रकार के ये दान व्यर्थ हैं— यानी इन 16 प्रकार के लोगों को दान देने से कोई फल नहीं मिलता—सन्ततिहीन, धर्मभ्रष्ट, दूसरों की ही पाकशाला (रसोई) में भोजन करने वाला, केवल अपने लिये भोजन बनाने वाला, वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम में जाकर फिर से गृहस्थ बनने वाला (आरूढ़-पतित), अन्याय से अर्जित धन वाला, पतित ब्राह्मण, चोर, मिथ्यावादी गुरुजन, पापी, कृतघ्न, ग्रामयाजक, वेदविक्रयी, बिना मन्त्र जाने यज्ञ कराने वाला, ब्रह्मबन्धु अर्थात् नाममात्र का ब्राह्मण, पतित ब्राह्मण, स्त्रीसमूह (क्योंकि स्त्रियाँ अपने-अपने घरों की स्वामिनी हैं। वे दाता होती हैं, वे कभी भी दान लेती नहीं), सांप को पकड़ने का व्यवसाय करने वाला तथा सेवक। सेवक आदि को जो धन दिया जाता है, वह अनुग्रह कहलाता है, दान नहीं। किसी दीन स्त्री को धन

दिया जाए तो वह भी अनुग्रह कहलाता है, दान नहीं। गृहणियाँ तो स्वयं ही दाता तथा स्वामिनी होती हैं।

श्रेष्ठ विद्वानों को ही दान देना चाहिये क्योंकि उससे बड़ा फल मिलता है। आगे यह भी कहा है कि जिनका रंग जुगुप्सा जनक हो या जिनके नाखून काले पड़ गये हों या जो कोढ़ी हों अथवा धूर्त हों, ऐसे ब्राह्मणों को भी दान देने पर कोई फल नहीं मिलता। सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान को दान देने से बहुत पुण्य मिलता है।

देय –

दान के पदार्थों एवं उपकरणों के विषय में बहुत-से नियम बने हैं। अनुशासनपर्व के मत से संसार के सर्वश्रेष्ठ पदार्थ तथा जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान् समझता है, उसका गुणवान् व्यक्ति को दिया जाना अक्षय पुण्य देनेवाला दान कहा जाता है। देवल के मत से वह वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, चिन्ता एवं दुःख दिये स्वयं प्राप्त किया हो, वह चाहे छोटी हो या मूल्यवान् हो। देय की बड़ाई या छोटाई अथवा न्यूनता या अधिकता पर पुण्य नहीं निर्भर रहता, वह तो मनोभाव, दाता की समर्थता तथा उसके धनार्जन के ढंग पर निर्भर रहता है। श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाय, वह सफल देय है, किन्तु अश्रद्धा से या कुपात्र को दिया गया धन निष्फल होता है। अपनी समर्थता के अनुसार देना चाहिए

देय पदार्थों में कुछ उत्तम, कुछ मध्यम एवं कुछ निकृष्ट माने जाते हैं। उत्तम पदार्थ हैं— भोजन, दही, मधु, रक्षा, गाय, भूमि, सोना, अश्व एवं हाथी। मध्यम हैं – विद्या, आश्रयगृह, घरेलू उपकरण, औषधें। निकृष्ट हैं – जूते, हिंडोले, गाड़ियाँ, छत्र, बरतन, आसन, दीपक, लकड़ी, फल या अन्य जीर्ण-शीर्ण वस्तुएँ। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि गाय, भूमि, तिल, स्वर्ण आदि सुपात्र को देना चाहिये। परन्तु पात्रता के विषय में भी स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है और ना ही केवल तप से। जिसका वृत्त उत्तम है अर्थात् जीवनक्रम उत्तम है और साथ ही विद्या और तप भी है, वही सुपात्र है। वेद के अध्ययनशील विद्वान श्रेष्ठ हैं। उनमें भी जो क्रियानिष्ठ हैं, वे उनसे भी श्रेष्ठ हैं और अध्यात्मवेत्ता विद्वान सर्वश्रेष्ठ हैं। देवल स्मृति ने भी सुवर्ण दान, गोदान, भूमिदान आदि को सभी पापों के प्रायश्चित्त का कारण बताया है। यह प्रायश्चित्त करने के बाद व्यक्ति शुद्ध हो जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का कहना है कि जिस वस्तु के दान के विषय में कुटुम्ब का कोई विरोध न हो, ऐसी सभी वस्तुयें गृहपति दान में दे सकता है। पत्नी और बच्चे दान में नहीं दिये जा सकते और घर में सन्तान के होने पर उनका ध्यान रखकर ही दान दिया जा सकता है। सन्तान सम्पन्न गृहपति सबकुछ दान नहीं दे सकता। इसी प्रकार जो वस्तु एक बार दे दी गई हो, उसका फिर दुबारा दान नहीं हो सकता। जो दान दिया जाये, उसे लोक में प्रकाशित कर देना चाहिये अर्थात् सबको विदित होना चाहिये कि यह दान दिया गया है। गुप्तदान की अलग महिमा है और उसके विषय में भी विस्तार से शास्त्रों में लिखा गया है। यश की कामना न रखकर धर्मभावना से अनेक बार गुप्तदान किये जाते हैं।

दान की अतिशय महिमा होने पर भी उस पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, बृहस्पति स्मृति, व्यास स्मृति, अग्निपुराण, आपस्तम्बधर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र— सभी ने ऐसे दान के ऊपर प्रतिबन्ध लगाये हैं, जो कुटुम्ब के भरण पोषण और भृत्यों के पोषण की उपेक्षा करके दिया जाये।

व्यक्ति यदि दान देने में समर्थ है, तब भी वह अवश्यभरणीय, अवश्यपोषणीय स्वजनों के दुखित रहने पर दान नहीं दे सकता। क्योंकि ऐसा करना धर्म का प्रतिरूप है यानी वह अधर्म है। ऐसा दान दाता को प्रारम्भ में तो प्रसिद्धिदायक लगने से मधुर लगता है परन्तु बाद में वह विष के समान ही सिद्ध होता है क्योंकि वह नरक-फल का कारण बनता है यानी इस प्रकार का दान देने वाले को नरक मिलता है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में भी यही बात कही गई है। अध्याय 37 का तीसरा श्लोक है—

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम।

पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥

अर्थात् अपने ऊपर जिनके भरण पोषण का भार है उस सब — माता-पिता, पत्नी-बच्चे, स्वजन एवं भृत्यवर्ग को पीड़ा दिये बिना ही दान करना चाहिये। जो गृहपति पोष्य वर्ग को कष्ट देकर या अभावग्रस्त रखकर दान देता है उसका अपकर्ष ही होता है।

इस प्रकार अपने कर्तव्यों की पूर्ति के बाद शेष धन ही देय है। उसके ही दान में पुण्य है। कर्तव्य कर्म स्वयं में पुण्यप्रद हैं और वस्तुतः दान भी कर्तव्य कर्म ही है। परन्तु किसी एक कर्तव्य के लिये अन्य कर्तव्यों की उपेक्षा धर्मशास्त्र नहीं सिखाते। इस प्रकार सनातन धर्मशास्त्र सन्तुलन और विवेक पर ही सदा बल देते हैं और उसे ही सर्वोपरि बताते हैं। यह है हिन्दू विश्वदृष्टि। संसार में ऐसी भी विश्वदृष्टियाँ हैं जो अपने पंथ या मजहब के सिवाय अन्य किसी का अस्तित्व सहन नहीं करतीं और उनका धर्मांतरण या उनको मार डालना — ये दो ही करणीय कर्तव्य मानती हैं। इस प्रकार बुद्धि और मन यदि अलग प्रकार का हुआ, तो विश्वदृष्टि भी अलग प्रकार की बन जाती है। जैसे, कम्युनिज्म नामक विचार रखने वाले कम्युनिज्म के अनुयायियों ने करोड़ों धनियों, किसानों आदि को मार डाला। यह विश्वविदित है। अतः विश्वदृष्टि के बनने में मन के भावों और बुद्धि के विचारों की निर्णायक भूमिका है।

1.8 पुण्य, पाप और प्रायश्चित्त : मन और बुद्धि पर प्रभाव

प्रश्न : पुण्य क्या है और पाप क्या है? उनका मन-बुद्धि पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर : करणीय कर्म के अन्तर्गत ही ऐसे सभी कर्म जो समाज में शुभ और कल्याणकारी भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं कर्मों की प्रतिष्ठा करते हैं या उनको बढ़ाते हैं, उन्हें पुण्य कहा जाता है। धर्म (सार्वभौम नियमों) का पालन पुण्य कर्म है। इसके लिये धर्म और स्वधर्म का ज्ञान आवश्यक है। अविद्या, राग, द्वेष आदि के विरुद्ध जो कर्म होते हैं अथवा जिन कर्मों के द्वारा राग, द्वेष आदि अविद्यामूलक संस्कार क्षीण होते हैं, वे सब पुण्य कर्म कहलाते हैं। जबकि अविद्या आदि के पोषक कर्म अपुण्य और अधर्मकर्म कहलाते हैं। धृति (सन्तोष एवं धैर्य तथा सत्त्व में स्थिरता), क्षमा, संयम, अस्तेय, आन्तरिक और बाह्य पवित्रता, धी (बुद्धि एवं बुद्धिमूलक कर्म), विद्या, सत्य एवं अक्रोध ये दस धर्म कर्म हैं, जो पुण्य कर्म हैं। अविद्या के विरोधी दान, परोपकार आदि करुणामूलक कर्म एवं प्राणियों के प्रति मैत्री भावना से उत्पन्न कर्म पुण्य कर्म होते हैं। क्रोध, लोभ (सम्पत्ति या यश या अधिकार-पद-प्रतिष्ठा का) और मोह मूलक सभी कर्म यथा अन्य की सम्पत्ति का हरण या उसके हरण की भावना, चोरी, झूठ, हिंसा, द्रोह आदि पापकर्म हैं। जो पुण्य के विपरीत हैं। सांख्यकारिका के भाष्य में गौड़पाद का

कथन है कि यम, नियम, दया और दान ये पुण्य कर्म हैं। इनसे विपरीत कर्म पापकर्म हैं।

पाप की परिभाषा सनातन धर्म में बिल्कुल अलग है। इस्लाम या ईसाइयत में गुनाह और 'सिन' की जो धारणाएँ हैं, उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। ईसाइयत के विषय में वर्तमान स्थिति जानने के लिये हमें बारबोअर की प्रसिद्ध पुस्तक 'सिन एण्ड दि न्यू साइकॉलोजी' का यह अंश देखना होगा—

“ऐसी धारणा बहुत घर करती चली जा रही है कि ईसाई भावना में पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किसी व्यक्ति का जीवन दुष्कर्म से परिपूर्ण हो सकता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विच्छिन्न हो सकता है, किन्तु यह पाप नहीं है। यह मानसिक दुष्कर्म है जिसकी व्याख्या के मूल में मानसिक कारण हैं और सम्भवतः मनोवैज्ञानिक चिकित्सा से यह दूर किया जा सकता है।”

आधुनिक यूरोपीय मनोविज्ञान पाप को परिवेश में व्याप्त आस्थाओं और मान्यताओं के प्रभाव से चित्त में उपजने वाले 'ऑब्सेसिव कम्पल्सिव डिसऑर्डर' बता देते हैं और उसे मनोवैज्ञानिक उपचार से ठीक करने के उपाय बताते हैं। परन्तु इसमें नैतिक जीवन की कोई बाध्यता नहीं होती। मन के अपराधबोध को निजी मानसिक प्रबन्धहीनता बताकर उस अपराधभाव से मुक्त होने के लिये मानसिक प्रबन्धन पर बल देना सामाजिक जीवन को नैतिकता से रहित बनाना है। परन्तु वेदों और धर्मशास्त्रों में वर्णित पापमोचन की भावना का सम्बन्ध ब्राह्मण्डीय नियमों और मानवधर्म के पालन में की गई चूक और गलतियों के सन्दर्भ में है। उसमें मन को तो शुद्ध और हल्का करने की विधि है ही, साथ ही मानवधर्म तथा सुव्यवस्था का भी पूर्ण विचार है। जिसे अंग्रेजी में 'कॉस्मिक ऑर्डर' कहते हैं, उसका ध्यान रखकर उसे सदा व्यवस्थित करने में व्यक्ति का अपना योगदान जो अपेक्षित है, उसका विचार करके धर्मशास्त्रों ने पापमोचन की सारी विधि निर्धारित की है। यही कारण है कि पुण्य और पाप सम्बन्धी आधारभूत विचार का सम्बन्ध सत्य और ऋत से है। ऋत के विषय में वैदिक साहित्य में बहुत ही गंभीर और भावपूर्ण और सुन्दर विवेचना है। इसी के कारण पातक के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद में उन्मेषशालिनी एवं हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यञ्जनाएँ पायी जाती हैं और यह प्रकट होता है कि प्राचीन ऋषियों में व्यक्ति, समुदाय और समाज तथा राष्ट्र सभी स्तरों पर सबके पापरहित होने की उदात्त और उद्दाम इच्छा रहती थी। ऋग्वेद की यह भावना ऋत की धारणा से गुम्फित है।

ऋत के तीन स्वरूप हैं — प्रकृति की गति, ब्रह्माण्ड की गति के सार्वभौम नियम तथा तदनुरूप मानव व्यवहार अर्थात् नैतिक आचरण। इसीलिये वेदों में कहा गया है कि ऋत से ही समृद्धि और प्रीति प्राप्त होती है। ऋत पातकों का नाश करता है। ऋत का यश सर्वव्यापी है। ऋत से ही सूर्य और चन्द्र गतिशील हैं। सूर्य की किरणें ही (वेदों में सूर्य का मूल अर्थ सर्वव्यापी चेतनासूर्य है) ऋत को हम तक लाती हैं और सर्वत्र विस्तारित करती हैं। ऋत पृथ्वी में बहुत गहराई तक व्याप्त है।

इस प्रकार जो एक ब्रह्मण्डीय व्यवस्था (कॉस्मिक ऑर्डर) है, वह ऋत है। नैतिकता का मूल आधार ऋत सम्बन्धी चिन्तन और बोध ही है। इसीलिये ऋत ही वास्तविक ऐश्वर्य है। क्योंकि वह ब्रह्मण्डीय नियमों का अनुवर्तन है और इसीलिये वह सूक्ष्म शक्तियों द्वारा बाधित नहीं होता और उन्हें बाधित नहीं करता। ऋत सम्पन्न जीवन ही नैतिक जीवन है। जो ऋत का पालन करता है, वह कभी भी अनृत नहीं होता, अनृत नहीं बोलता और अनृत कर्म नहीं करता। ऋत और सत्य परस्पर जुड़े हुये हैं। ऋत की

अवज्ञा और उल्लंघन ही अनृत है। अनृत ही पाप का मूल है।

वेदों में पाप के वाचक अनेक शब्द हैं जिनमें मुख्य हैं – आगस्, एनस्, अध, दुरित, दुष्कृत, दुग्ध, अंहस् और वृजिन। ऋजु का विपरीत है वृजिन। आदित्य अवृजिन हैं। वेदों का कथन है कि सर्वत्र प्रकाशित एवं सर्वत्र व्याप्त चेतना-सूर्य मनुष्यों के अच्छे और बुरे सभी कर्मोंको देखता रहता है। कोई भी पाप सर्वव्यापी चेतना-सूर्य से छिपा नहीं रहता – 'ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्'।

साथ ही यह भी कहा गया है कि सूर्य (मित्र), अर्यमा एवं वरुण देवतागण ऋत में निवास करते हैं और अनृत से घृणा करते हैं। कोई भी पाप उनसे छिपा नहीं रहता।

ऋग्वेद में द्यौः को पिता और पृथ्वी को माता कहा है तथा यह कहा गया है कि वे साधक को दुरित से बचायें। ऋग्वेद में यह भी आया है कि विद्वानों और बुद्धिमानों ने सात मर्यादायें बनाई हैं जो व्यक्ति इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है उसे पाप लगता है :-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।

इसकी व्याख्या करते हुये निरुक्त में छठें अध्याय में पंचम पाद में 112वें मन्त्र में व्याख्या है :-

'सप्त एव मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामपि अधिगच्छन्नंहस्वान् भवति ।

स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके अनुतोद्यमिति ।'

अर्थात् ज्ञानी पुरुषों ने सात मर्यादायें निर्धारित की हैं। अर्थात् ये सात कर्म कभी नहीं करने चाहिये। यह मनुष्य के लिये नैतिक मर्यादा है। उनमें से एक को भी करना पाप है। ये सात कर्म हैं- स्तेयम् अर्थात् चोरी, तल्पारोहणम् अर्थात् पर-स्त्री के साथ समागम, ब्रह्म-हत्या, भ्रूण-हत्या, सुरा-पान, दुष्कृत कर्म को बार-बार करना और सातवां है, पाप करने पर उसे छिपाने के लिये झूठ बोलना।

यहाँ मर्यादा शब्द का भी मूल स्वरूप समझना उचित होगा। निरुक्त के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में बताया गया है कि 'सीमा मर्यादा, विसीव्यति देशाविति'। अर्थात् सीमा ही मर्यादा है। सीमा ही दो स्थानों की हदबन्दी करती है। अतः सीमा ही मर्यादा है। सीमा को पार करना यानी मर्यादा का उल्लंघन! मनुष्य की यह मर्यादा दिव्य सत्ता द्वारा निर्धारित कर दी गई है कि वह उक्त सातों कार्य न करें। आगे चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में कहा गया है कि- मर्या मनुष्यो परम-धर्मा।

यानी मरण धर्मा होने से मनुष्य को मर्या कहा है। उसके लिए जो सीमा निर्धारित है, उसे मर्यादा कहते हैं – 'मर्याः अदीयते' – मनुष्यों के लिए निर्धारित है, अतः 'मर्यादाभिधानम्' – मर्यादा नाम पड़ा।

यहाँ मृत्यु का शास्त्रीय अर्थ भी स्मरणीय है। ऋग्वेद का मन्त्र है –

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ।। (ऋग्वेद 10/18/1)

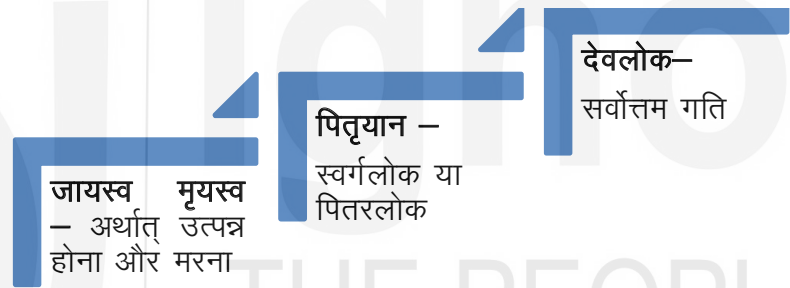
इस पर निरुक्त का निर्वचन है – 'मृत्यु के विषय में कथन है कि हे मृत्यु, देवयान मार्ग से भिन्न जो तुम्हारा अपना मार्ग है उस पर जाओ। हमारी सन्तानों की हिंसा मत

करो। हमारे वीरों की हिंसा मत करो।' आगे निरुक्त में विवेचना है कि शतबलाक्ष मौद्गल्य मृत्यु का निर्वचन करते हैं कि— 'मृतं च्यावयति', मृत्यु प्राणी को इस योनि से छुड़ाकर दूसरी योनि में ले जाती है। अतः मृत्यु में अस्तित्व समाप्त नहीं होता। अपितु उसकी अगली गति होती है।

प्राणियों की तीन गतियाँ हैं। सर्वोत्तम है देवयान। उस मार्ग से जाने वाले प्राणी मुक्त हो जाते हैं। अतः देवयान गति से मृत्यु का कोई सम्बन्ध नहीं। (इसलिये जो व्यक्ति देवयान मार्ग से जाते हैं, उनके लिये वस्तुतः यह कथन सही नहीं है कि उनकी मृत्यु हो गई। वे तो केवल 'चले गये हैं', इतना ही कहना उचित है)। दूसरी गति है पितृयान। पितृयान मार्ग श्रेष्ठ है और यह स्वर्गलोक या पितरलोक (पितृलोक) ले जाता है।

तीसरी गति है 'जायस्व म्रियस्व'। अर्थात् उत्पन्न होना और मरना। यह सामान्य गति है और तीनों में से सबसे निम्न गति है। मृत्यु लोक में ही बारम्बार आना-जाना, यह है निम्न गति।

प्राणियों की उपरोक्त वर्णित गति को इसे हम एक ग्राफ से समझने का प्रयास करते हैं—



मृत्यु के उपरान्त प्राणियों को प्राप्त होने वाली तीन गतियाँ

एक कठिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यक्ति के मन में पाप का उदय किस प्रकार होता है। भगवद्गीता के अध्याय तीन में 36वें श्लोक में अर्जुन का योगेश्वर श्रीकृष्ण से यही प्रश्न है। इसका उत्तर श्रीकृष्ण अगले श्लोक में देते हैं — 'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करते हैं। क्योंकि काम कभी भी तृप्त नहीं होता, यह 'महाशन' है अर्थात् अत्यधिक भोजन करने वाला है। जिसका अर्थ है कि भोग से यह कभी भी तृप्त नहीं होता। इसीलिये इसे महापापी भी कहा गया है। यही स्थिति क्रोध की है। वह नाना रूपों में व्यक्ति को मथता रहता है और वैर तथा प्रतिशोध की ओर ले जाता है। इन रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध के कारण मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। यह जो काम है, यह निरन्तर धधकती हुई अग्नि है। यह अग्नि चिदग्नि को सदा ढके रहती है और कभी भी शमित ही नहीं होती। इसीलिये इसे कभी भी पूर्ण या शान्त न होने वाली आग और ज्ञान की महा वैरी कहा गया है।'

भगवद्गीता के अध्याय 16 के 21वें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण पुनः बताते हैं कि 'नरक के द्वार तीन हैं — काम, क्रोध तथा लोभ। ये व्यक्ति का नाश कर देते हैं। इनसे मुक्त होने के लिये ही प्रयास करना चाहिये।'

वस्तुतः सत्व, रज और तम ये तीन गुण सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं। रजोगुण की क्रियाशीलता प्रायः पाप की ओर ले जाती है। विभिन्नव्यक्तियों में ये तीन गुण विभिन्न

अनुपातों में होते हैं। रजोगुण की तीव्रता से सक्रियता भी होती है और ज्ञान का नियन्त्रण नहीं रहे तो यह सक्रियता पाप की ओर भी आकर्षित करती है। प्रत्येक जीवात्मा अनादिवासना से संचालित है और सबमें उनके अपने-अपने पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप ये तीन गुण भिन्न-भिन्न अनुपात में रहते हैं।

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अर्थात् कोई भी जीवात्मा कहाँ जन्म लेता है, उसकी आयु कितनी रहती है और उसके भोग क्या-क्या रहते हैं, यह पूर्व के कर्माशय पर निर्भर होता है। कर्माशय का अर्थ है कर्म-संस्कार। धर्म और अधर्म रूप कर्माशय ही कर्म संस्कार होता है। चित्त में कोई भाव जगने पर उस भाव की एक छाप चित्त में रह जाती है, उसे ही संस्कार कहते हैं। ये संस्कार ज्ञानमूलक या प्रज्ञामूलक भी होते हैं और अज्ञानमूलक भी। संस्कारों के समुच्चय का ही नाम कर्माशय है। कर्माशय से ही जन्म, आयु और भोग ये तीन विपाक या फल होते हैं। कर्माशय बीज है, वासना क्षेत्र है और सुख-दुख इस क्षेत्र में बीज से उपजने वाले फल हैं। जन्म ही वृक्ष है। कौन जीव कहाँ जन्म लेता है, यह कर्माशय से निर्धारित होता है और फिर उसके अनुसार ही आयु और भोग प्राप्त होते हैं। योगशास्त्र में इसका विस्तार से विवेचन है कि क्या एक कर्माशय एक ही जन्म का कारण होता है या अनेक जन्मों का। विवेचना का सार यह है कि एक कर्माशय एक ही जन्म का कारण बनता है। परन्तु कुछ कर्माशय ऐसे होते हैं जो इस नियम के अपवाद होते हैं। वे अन्य जन्म तक जाकर फल को निष्पन्न करते हैं। एक जन्म में जो कर्माशय संचित होता है, वह उसी जन्म में कुछ नष्ट भी हो सकता है। अतिप्रबल या प्रधान कर्माशय यदि किसी जन्म में फल दे रहे हैं तो अप्रधान कर्माशय उससे दबे रहते हैं और वे किसी अगले जन्म में जाकर फलित होते हैं। इसको उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया गया है कि किसी व्यक्ति ने थोड़ा धर्माचरण किया परन्तु बाद में विषयलोभ से अनेक पापकर्म किये। उन पापकर्मों का कर्माशय प्रधान हो गया अतः अगला जन्म उसका पशुयोनि में होगा। वहाँ वह उन पापकर्मों का फल भोगेगा। परन्तु जो पुण्य कर्म किये हैं, जो धर्माचरण किया है वह संचित रहेगा और वह बाद में मानवजन्म लेने पर प्रकाशित होगा। इस प्रकार जन्म, आयु और भोग पुण्य के कारण सुखफल देने वाले और अपुण्य या पाप के कारण दुःखफल देने वाले हैं।

इस सनातन दृष्टि को ध्यान में रखकर ही हमारे यहाँ प्रायश्चित्त का विधान ऋषियों और ज्ञानियों ने किया है। क्योंकि आत्मा तो कभी पाप या पुण्य में लिपटती नहीं। जो भी संस्कार होते हैं वे मन, बुद्धि और चित्त में ही होते हैं। अतः पाप दूषित मन, विकृत या विचलित बुद्धि और मलिन चित्त का कार्य है। इसलिये इस दूषण या मल को हटाने पर मन, बुद्धि और चित्त निर्मल हो जाते हैं। यही प्रायश्चित्त का प्रयोजन है। अतः पाप और पुण्य जीवात्मा के मन, बुद्धि और चित्त को प्रभावित करने वाले गुण हैं।

वर्तमान में प्रभावी अन्य मजहब या रिलीजन में गुनाह या 'सिन' की जो मान्यता है, वह भारतीय पाप के बोध से पूर्णतः भिन्न है। वहाँ 'सिन' या गुनाह या फितना वह है जो पंथ प्रवर्तक के आदेशों से हटकर काम किया जाये। वहाँ उद्देश्य पांथिक नियन्त्रण है। (आइडियालॉजी आधारित पार्टी नामक पंथ भी इन्हीं मजहबों या रिलीजन की नकल में परिकल्पित है। वहाँ भी उद्देश्य पांथिक नियन्त्रण है)।

इसीलिये मजहब यानी 'मोनोथीइस्ट' यानी एकपंथवादी 'रिलीजन' सदा एकदेववादी होते हैं। कुछलोग अज्ञानतावशइन्हें ही अद्वैतवादी कहते देखे जाते हैं, जो अनुचित और सत्य के विपरीत है। वे एक ही देवसत्ता को सर्वपूज्य मानते हैं और अन्य देवसत्ताओं से उसका विरोध मानते हैं तथा अपने द्वारा पूजित देवसत्ता को एकदेशीय मानकर

किसी सन्देशवाहक के माध्यम से ही अपना सन्देश अन्यों तक पहुँच सकने योग्य मानते हैं। इस प्रकार वहाँ व्यक्ति की आत्मसत्ता मजहब, रिलीजन या पंथ के अधीन है और सिन या गुनाह से आत्मा ही मलिन होती मानी जाती है। उस आत्मा को ही शुद्ध करने के लिये सन्देशवाहक के माध्यम से प्राप्त सन्देश में और उस सन्देश के अनुसायी पंथ में एकान्तिक श्रद्धा और सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक होता है। अतः वहाँ 'सिन' और गुनाह का सारा ही प्रतिपादन पांथिक नियन्त्रण के लिये होता है। भारतीय ज्ञान परम्परा अर्थात् सनातन धर्म में पुण्य और पाप जीवात्मा के मन, बुद्धि और चित्त के उत्कर्ष या अपकर्ष के आधारभूत कारण के रूप में ही वर्णित है। अतः पाप का प्रायश्चित्त मन, बुद्धि और चित्त के निर्मल होने तथा तेजोमय होने के लिये आवश्यक है। जीवात्मा का ना तो उत्थान होता है, ना पतन। ना वह मलिन होती है, ना शुद्ध। वह तो सदा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन है। विशुद्धा है और अपरिणामिनी है। आत्मा का ना जन्म होता है, ना मृत्यु। उस अविनाशी और विशुद्धा आत्मा को ना तो पाप मलिन कर पाते और ना ही पुण्य उज्ज्वल। मलिन होते हैं केवल मन, बुद्धि और चित्त और इनकी ही मलिनता दूर करने पर इनमें ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश दीप्त हो उठता है। अतः पाप का प्रभाव मन, बुद्धि और चित्त पर पड़ता है। पुण्य का प्रभाव मन, बुद्धि और चित्त को पाप से उपजी मलिनताओं से मुक्त करता है। हिन्दू धर्म और इस्लाम या ईसाइयत जैसे पंथों में यही अन्तर है और यह आकाश-पाताल का अन्तर है।

पाप और महापाप

अत्यंत प्राचीनकाल से दुष्कृत्यों और पापों का वर्गीकरण होता रहा है। ऊपर हमने सात मर्यादाओं की विवेचना की है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने पापों की दो कोटियाँ गिनाई हैं – पतनीय एवं अशुचिकर। पतनीय पाप वे हैं, जिनसे पतन होता है और जातिच्युत होने की स्थिति आ जाती है। अशुचिकर पाप वे हैं जो जातिच्युत तो नहीं बनाते परन्तु अपवित्रता का कारण बनते हैं।

पतनीय पाप हैं – स्वर्ण की चोरी, लांछित करने वाले अपराध, उपेक्षा या प्रमाद से वेद विद्या का पूर्ण ह्रास, भ्रूण हत्या, माता-पिता या एक ही गर्भ से उत्पन्नसन्तानों से व्यभिचार, सुरापान, वर्जित लोगों से समागम, किसी अपरिचित् की पत्नी से समागम आदि।

अशुचिकर पाप हैं – मलमूत्र आदि खा लेना या ग्राम के शूकर अथवा कुक्कुट अथवा कुत्ते का मांस खाना, छोड़ा हुआ भोजन करना, अपात्र स्त्रियों के साथ समागम। आपस्तम्ब ने यह भी कहा है कि पतनीय पापों के अतिरिक्त शेष सभी पाप अशुचिकर समझे जाने चाहिये। ये अपवित्र बनाते हैं।

वशिष्ट धर्मसूत्र के अनुसार पापियों की तीन कोटियाँ हैं – एनस्वी, महापातकी और उपपातकी। एनस्वी उन्हीं लोगों को कहा गया है जिन्हें आपस्तम्ब में पतनीय कहा गया है। महापातकों का वर्णन गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वशिष्ट धर्मसूत्र, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में है। सामान्य रूप से महापातकों की संख्या पाँच है। ये हैं – ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुतल्पगमन और महापातकी का संसर्ग।

इसके अतिरिक्त उपपातक अनेक हैं। वशिष्ट धर्मसूत्र में पाँच उपपातक गिनाये हैं – यज्ञ प्रारम्भ कर बीच में उसे छोड़ देना, गुरु को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविका का सम्बन्ध रखना (नास्तिक के यहाँ नौकरी करना या काम करना या उसके साथ व्यापार करना) और सोमलता की बिक्री करना। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार उपपातक ये हैं :- पशु हनन, वेदमन्त्र का विस्मरण, राजघात, अपात्र को

पुजारी बनाना या उसके लिये पूजा करना आदि। याज्ञवल्क्य स्मृति में तथा अग्निपुराण में उपपातकों की लम्बी सूची दी गई है। जो इस प्रकार है :- गौवध, निश्चित आयु में उपनयन नहीं करना, चोरी (स्वर्ण चोरी महापातक है, शेष चोरियाँ उपपातक हैं), ऋण नहीं चुकाना, अग्निहोत्र न करना, जिन चीजों की बिक्री नहीं करनी चाहिये, जैसे नमक, उनकी बिक्री करना, बड़े भाई के रहते छोटे भाई द्वारा विवाह कर लेना, ऐसे शिक्षक से वेद पढ़ना जो वृत्ति लेते हों अर्थात् नियमित वेतन लेते हों, व्यभिचार, धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित मात्रा से अधिक ब्याज लेना, नारी हत्या, निन्दित धन पर जीविका चलाना, नास्तिकता, ऐसे व्रतों का परित्याग जिनके करने में व्यक्ति समर्थ है, अनाज की चोरी, पशुओं की चोरी, साधारण धातु की चोरी, पतित का पुरोहित होना, पिता-माता या पुत्र को बिना पर्याप्त कारण के घर से निकालना, तालाब या बगीचा बेचना, कुटिलता, केवल अपने लिये भोजन बनाना, आरम्भ किये गये व्रत को पूर्ण किये बिना दोड़ देना, शराब पीने वाली स्त्री से समागम, पुत्र का त्याग, सगे सम्बंधियों का भरण-पोषण न करना, पशुओं का हनन, जादू या इंद्रजाल से जीविकोपार्जन, ऐसे यन्त्रों का उपयोग या उनकी स्थापना जो जीवों को पीड़ा दे या उनकी हत्या करें, धन के लिये दासता स्वीकार करना, पतित के यहाँ नौकरी करना, नीच लोगों से मित्रता करना, नीच स्त्री से समागम का सम्बन्ध बनाना, चारों आश्रमों से बाहर रहना, मुप्त का दान या मुप्त का अन्न खाकर रहना, नास्तिकों के ग्रन्थों का अध्ययन और प्रचार तथा पतित का सेवक बनना। इन सभी पापों के लिये प्रायश्चित्त के भी विधान दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि भिक्षुक को दी गई भिक्षा पर उसका धर्मविहित अधिकार है और उसे मुप्त का अन्न नहीं माना जाता है। इसी प्रकार पुरोहित या मंदिर के पुजारी को दिया गया दान पूर्णतः धर्मविहित है और उस पर उनका धर्मसम्मत अधिकार है। वह भी मुप्त का दान या मुप्त का अन्न श्रेणी में परिगणित नहीं होता। पापों की संख्या और उनकी कोटियों पर धर्मशास्त्रों में बहुत विस्तार से विचार है।

1.9 सारांश

जैसी कि अब तक विवेचना की गई है, हिन्दू विश्व-दृष्टि व्यक्ति के मन और बुद्धि को तो उदार और व्यापक तथा कर्मशील बनाती ही है, वह समाज में समरसता, न्यायभावना, सामंजस्य, मैत्रीभाव, बन्धुता, प्रेम, करुणा, वीरता और पवित्रता के भावों को व्यापक बनाती है और इन सबका जीवन में आग्रह दृढ़ करती है। जिसके कारण हिन्दू अपने जीवन में धर्ममय होते हैं। धर्म की व्याख्या एवं उसका स्वरूप तथा परिणाम भी स्पष्ट है। सार्वभौम नियम ही धर्म हैं। जिनमें सत्य, अहिंसा, दूसरे के द्रव्य पर गिद्धदृष्टि या लोभदृष्टि नहीं रखना, संयमपूर्ण जीवन तथा भोग एवं भोग्य वस्तुओं के संग्रह में मर्यादा रखना। ये ही आधारभूत सार्वभौम नियम हैं। इनके साथ ही आन्तरिक और बाहरी पवित्रता, सन्तोष का भाव, आध्यात्मिक एवं श्रेष्ठ शास्त्रों एवं साहित्य का अध्ययन, ईश्वर की भक्ति तथा श्रेष्ठ जीवन के लिये आवश्यकता पड़ने पर कष्ट सहना – ये भी धर्म के ही अंग हैं। समाज में धर्म की भावना व्यापक होने पर जहाँ अपने समाज को वीर और तेजस्वी तथा सामंजस्यपूर्ण एवं न्यायपूर्ण बनाने पर सदा ध्यान दिया जाता है, वहीं अन्याय के अन्याय या आक्रमण या आघात के प्रति वीरतापूर्ण प्रतिकार की भी भावना प्रबल होती है। इस प्रकार हिन्दू विश्वदृष्टि जहाँ सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मीयता का बोध कराती है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना देती है, वहीं इस भावना को किसी मूढ़ता या कायरता में ढलने नहीं देती। अर्थात् न्याय की भावना और अन्याय के प्रतिकार की भावना जाग्रत रहने पर ही 'वसुधैव

कुटुम्बकम्' का धर्ममय स्वरूप व्यक्त होता है। अन्यथा अविवेकपूर्ण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रायः अपने समाज के प्रति उदासीनता या अन्यता का भाव और किसी गलत या अनैतिक समुदाय के प्रति अनुचित उदारता का भाव रखने की आड़ बन जाती है। इसलिये 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सदा विवेकपूर्ण दृष्टि के साथ ही चरितार्थ होता है। हिन्दू विश्व दृष्टि व्यक्ति, समूह या समुदाय, समाज एवं राष्ट्र सभी को श्रेयस्कर जीवन का अनुशासन और मार्ग दिखाती है। यह समस्त विश्व के लिये कल्याणकारी है।

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

इस इकाई में दिये गये विषयों की अधिक विस्तार से समझ के लिये निम्नांकित शास्त्रों को देखना उपादेय होगा :-

1. याज्ञवल्क्य स्मृति
2. महाभारत (विशेषतः आदिपर्व, वनपर्व, शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व तथा अनुशासन पर्व)
3. कमलाकर भट्ट कृत – निर्णयसिन्धु
4. काशीनाथ उपाध्याय कृत – धर्मसिन्धु
5. नागोजि भट्ट कृत – आचारेन्दु शेखर
6. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत – सांख्य दर्शन भाष्य
7. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत – वेदान्त दर्शन भाष्य
8. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत – न्याय दर्शन भाष्य
9. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत – वैशेषिक दर्शन भाष्य
10. श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थ कृत – पातंजल योगप्रदीप

1.11 बोध प्रश्न

1. मन एवं बुद्धि से आप क्या समझते हैं?
2. हिन्दू शास्त्रों में वर्णित मन और बुद्धि के स्वरूप तथा संगठन की विवेचना कीजिए?
3. हिन्दू मन से आप क्या समझते हैं, सविस्तार विवेचना कीजिए?
4. हिन्दू जीवन पद्धति की विवेचना कीजिए?
5. हिन्दू विश्वदृष्टि पर प्रकाश डालिए?